सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं
आध्यात्म का
प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 43, अंक : 7
अक्टूबर – 2010

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिण:।।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च।
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमै:।।

(महा. अनु. 141)

अर्थात् जो शील और सदाचार से विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियों को काबू में कर रखा है, जो सरलतापूर्वक वर्ताव करता है और समस्त प्राणियों का हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धन का उपार्जन किया है– ऐसे गृहस्थ के लिए आश्रमों की क्या आवश्यता है?

◆ ◆ ◆

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:।।

(ऋक् 1/164/46)

सत् ब्रह्म एक ही है, मेधावी लोग उस एक सत् तत्व को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से अभिहित करते हैं। सुन्दर पंख वाले तीव्रगामी गरुड़ भी वे ही हैं। उसी तत्व को यम, मातरिश्वा के नाम से भी कहते हैं। क्या वह तत्व (ब्रह्म) एक ही है या अनेक? नहीं, वह एक ही है और उसी एक तत्व के ही ये अनेक नाम और रूप हैं।

◆ ◆ ◆

चित्रकर्म यथाऽनेकैरंगैरुन्मील्यते शनै:।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकै:।।

(महर्षि अंगिरा)

तूलिका के बार–बार फेरने से शनै:–शनै: जैसे चित्र अनेक रंगों से निखर उठता है, वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से ब्राह्मणत्व का विकास होता है।

◆ ◆ ◆

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मन:।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च।।

(महाभारत)

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुष को इहलोक और परलोक में कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्य:।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोग:।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 43 अंक : 7

नमस्ते देवदेवाय ब्रह्मणे परमेष्ठिने।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वताय जयाय च।।
नम: स्वयम्भुवे तुभ्यं स्रष्टे सर्वार्थवेदिने।
नमो हिरण्यगर्भाय वेधसे परमात्मने।।
नमस्ते वासुदेवाय विष्णवे विश्वयोनये।
नारायणाय देवाय देवानां हितकारिणे।।

देवाधिदेव, पुराण पुरुष, शाश्वत, जयस्वरूप परमेष्ठी ब्रह्म को नमस्कार है। सृष्टि करने वाले तथा सभी अर्थों के ज्ञाता स्वयम्भू! आपको नमस्कार है। हिरण्यगर्भ, वेधा, परमात्मा को नमस्कार है। विश्व के उत्पत्ति स्थान, देवों के हितकारी, वासुदेव, नारायणदेव विष्णु को नमस्कार है।

अक्टूबर, 2010

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	13
3.	कामाख्या की यात्रा में सत्संग लाभ – डा. विजय सिंह	17
4.	निष्काम कर्म – अनूपराय	21
5.	आदरणीय त्रय गुरुभाईयों को सीख – केशवदेव उपाध्याय	23
6.	प्रज्ञा का स्वरूप व कार्य : – रमेश सिंह	27
7.	श्री गीतामृत पदावली – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी	31
8.	सद्गुरु कृपालीला – जगदीश राए बंसल	34
9.	जब श्री गुरुदेव का हाथ पकड़ा (I) – राजकुमार शर्मा	37
10.	अष्टाङ्ग योग – डा. अभिराम शर्मा	41
11.	दिशाहीन नारियों का उद्धार – श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	45
12.	श्रद्धा सुमन पावन श्री चरणों में – अवनीश भटनागर	47

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 140.00
द्विवार्षिक	: रु. 250.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

विशेष लेख

कर्म-विपाक एवं कर्म-वासना

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

श्रीमद्भगवद् गीता में आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने दो श्लोकों में कर्म?विवेचना करते हुए कर्मगति को बहुत गहन बताया हैं कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इसको बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं समझ पाते। वे अपने मुखारविन्द से इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं कि-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय को बड़े-बड़े विद्वान, कविगण भी नहीं समझ सके हैं। इसलिए हे अर्जुन ! मैं तुम्हें कर्मो का स्वरूप समझाता हूँ। जिसको समझकर मनुष्य कर्म के बन्धन से छूट जाया करता है। तुम कर्मो को भी समझो, साथ ही विकर्मो को भी समझो और इसके साथ-साथ अकर्मो को भी समझो, क्योंकि कर्मगति बहुत ही गहन है। कर्मगति को बड़े-बड़े योगी और विद्वान भी नहीं समझ पाते।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मगति को बहुत ही गहन बतलाया है, जिसे हर व्यक्ति को समझ लेना सहज सम्भव नहीं होता। योगदर्शन में भगवान पातंजलि देव ने कर्म जाति को चार प्रकार से समझाया है। उन्होंने साथ ही साथ यह भी समझाया है कि वह चतुर्विध कर्म-जाति कहाँ-कहाँ लागू होती है और किस प्रकार के कर्मो को करता हुआ मनुष्य किस-किस प्रकार के कर्म विपाक का भागी हुआ करता है।

भगवान पतंजलिदेव की बतलाई हुई यह चतुर्विध कर्म-जाति जिसका नीचे उल्लेख किया जा रहा है, वही भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म, विकर्म एवं अकर्म में विभक्त है। केवल मात्र समझाने का रूपान्तर है जिससे मनुष्य शब्दात्-भेद से इसको भली प्रकार से समझ सके। यथा -

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।। —योगदर्शन 4-7

अर्थात् कर्म-जाति में चार प्रकार के कर्म हुआ करते हैं। पापकर्म, पुण्यकर्म, पाप और पुण्य के मिलेजुले कर्म और न पाप के न पुण्य के (केवल मात्र क्रियात्मक रूप से किये

जाने वाले कर्म)। यह चतुर्विध कर्म–जाति भगवान पतंजलिदेव ने अपने योगदर्शन में बतलाई है और साथ ही यह भी बतला दिया कि इस चतुर्विध कर्म–जाति में तीन प्रकार का कर्म सांसारिक लोग किया करते हैं और केवलमात्र क्रियात्मक कर्म केवल योगी ही करते हैं। पढ़िये इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी की प्रामाणिकता–

चतुष्पात् लल्वियं कर्मजातिः – कृष्णा, शुक्लाकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति, तत्र दुरात्मनां शुक्ला कृष्णा बहिः– साधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः, शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवतां सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति अशुक्लाकृष्णा सन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामित्ति, तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद् अकृष्णं चानुपादानाद् इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव विविधमिति।।7।।

अर्थात् यह कर्म जाति चार प्रकार की है। कृष्णा – अर्थात् पाप कर्म, शुक्लाकृष्णा–पाप और पुण्य के मिले हुए कर्म और तीसरे शुक्ला अर्थात् केवलमात्र पुण्य के कर्म और चौथे ऐसे कर्म होते हैं जो आशुक्लाकृष्णा अर्थात् न वे पाप होते हैं और न पुण्य के। यह चौथी प्रकार के कर्म केवल मात्र क्रियारूप ही हुआ करते हैं। जैसे एक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से हाथ हिलाता है, उस हाथ के हिलाने में उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं रहता, वह कर्म केवल हरकत मात्र का ही कर्म है। उसमें पाप कर्म केवलमात्र दुरात्माओं के ही हुआ करते हैं और इसके अतिरिक्त जो कर्म पाप और पुण्य के मिले हुए हुआ करते हैं, ऐसा कर्माशय दूसरों को दुःख देना या किसी पाप अनुग्रह करना आदि और कर्मों से प्रचय किया जाया करता है। सांसारिक लोग संसार में रहते हुए अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कर्मों को करते रहते हैं। ऐसे कर्मों का परिणाम परपीड़न भी होता है एवं अनुग्रह भी। जैसे कोई यज्ञ, दानादि शुभ कर्म कर रहा है और उसके बीच में ही काम, क्रोध आदि के वश में होकर किसी को ताड़ना देता है, मारता या पीटता है तो वह व्यक्ति यज्ञ, दान आदि करते हुए भी साथ–साथ परपीड़न आदि जो कर्म कर रहा है, वे भी कर्म परपीड़न आदि क्लिष्ट कर्म कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य के चित्त में क्लिष्टाक्लिष्ट दोनों प्रकार की चित्तवृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है। अतः ऐसा चित्त दोनों प्रकार के पाप–पुण्य प्रधान कर्माशय के प्रचय का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त तीसरा कर्माशय केवलमात्र शुक्ला कर्मों का हुआ करता है। अर्थात् उसमें मनुष्य केवलमात्र पुण्य ही पुण्य के कर्म करता है, जिनके करने से केवल मात्र पुण्य प्रधान कर्मों के प्रचय का आधार हुआ करता है। यह शुक्लात्मक कर्म अर्थात् पुण्य प्रधान कर्म केवलमात्र तप व स्वाध्याय के द्वारा ध्यानयोग प्रधान अर्थात् नित्य नियमानुसार ध्यानाभ्यास करने वाले ध्यानियों का होता है। इसमें मानस चिंतन ही प्रधान कारण रहता है। एकान्तवास करने वाले एवं नित्य नियमानुसार ध्यानाभ्यास करने वाले साधकों के लिए परपीड़न आदि का तो प्रश्न पैदा ही

नहीं होता, वे लोग तो केवल मात्र अपने मानस चिंतन द्वारा किसी दूसरे का अहित न करके अपने ही आत्म कल्याण के निमित्त ध्यानाभ्यास करते हैं। इसलिए उनका कर्माशय प्रचय केवल मात्र शुक्ल कर्मात्मक अर्थात् पुण्य प्रधान ही हुआ करता है। इसके बाद जिन लोगों के कर्मबन्धन क्षय हो जाते हैं, जो लोग कर्मबन्धन से परे होकर क्षीण क्लेश संन्यासी बन जाते हैं अर्थात् जिनको कृत–कृत्यता प्राप्त हो जाती है, वे कर्मजाल से परे होकर कर्म–विमुक्त हो जाया करते हैं। उनके लिए हमारे शास्त्र बतलाते हैं –

भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् इस योगी को परावर दृष्टि हो जाने के बाद सब संशयों का नाश हो जाता है। कर्म बन्धन क्षय हो जाते हैं एवं हृदय ग्रन्थि खुल जाया करती है। ऐसे योगी क्षीण क्लेशों वाले केवलमात्र लोकोपकार के लिए ही शरीर को धारण करने वाले चरमदेह वाले कहलाया करते हैं, अर्थात् वे लोग जन्म–मरण से परे होकर अपने ही शुद्ध स्वरूप में स्थित रहा करते हैं। उनका वह शरीर केवलमात्र पिछला शरीर हुआ करता है। उस शरीर के बाद उनको दुबारा शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनको चरम देह वाले कहा गया है। अतः सिद्धान्त की बात यह रही कि पाप के कर्म, पुण्य के कर्म और पाप और पुण्य के मिलेजुले कर्म ये तीनों जातियां संसार वालों की होती हैं और पाप–पुण्य रहित अशुक्लाऽकृष्णा कर्म केवलमात्र चरमदेह धारण करने वाले योगियों के हुआ करते हैं। इन्हीं चार प्रकार के कर्मों से कर्माशयों का प्रचय होता रहता है। तीन प्रकार के पाप, पुण्य एवं पाप और पुण्य के मिले–जुले कर्माशयों द्वारा जन्म–मरण का चक्र चलता रहता है किन्तु जो लोग क्षीण क्लेश एवं चरमदेहधारी हो जाते हैं उनका कर्माशय प्रचय नहीं होता। वे तो केवलमात्र जितने दिन भी इस शरीर में रहते हैं, सदा क्रियात्मक कर्म ही किया करते हैं और कर्माशय प्रचय उन्हीं का होता है, जिनमें कर्मों के अच्छे–बुरे भोग को देने वाले कर्म रहा करते हैं। भगवान पतंजलिदेव इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझाते हैं –

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।8।।

अर्थात् मनुष्य का जैसा कर्म विपाक होता है उस कर्म विपाक के अनुसार ही उसके अन्दर कर्म–वासना रहा करती है। वह कर्म–वासना ही मनुष्य को जन्म देने का कारण बना करती है। एक प्रकार से कर्मफल के अन्दर उस फल के बीज रूप से वह वासना ही मन में कायम रहती है। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी के विचार –

तत इति त्रिविधात्कर्मणः तद्विपाकानुगुणानामेवेति यत्रआतीयस्य कर्मणो यो विपाकास्तस्यानुगुणा या वासना कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानान्नारकतिर्यमनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यमनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः।।8।।

अर्थात् कर्मों में यदि मनुष्य पाप कर्म विपाक भोग रहा है तो उस दशा में पापकर्म विपाक के अनुसार ही वासना बनेगी, क्योंकि वासना दूसरे जन्म की दात्री बीज स्वरूपा है। यदि मनुष्य पुण्यकर्म विपाक का उपभोक्ता है तो उस पुण्य विपाक के अनुसार ही वासना बनेगी और वैसा ही मनुष्य का तदनुरूप दूसरा रूप तैयार हो जायेगा। यदि मनुष्य पाप और पुण्य मिले–जुले कर्मो का उपभोग कर रहा है तब उसकी वासना भी वैसी ही बनेगी और वह वासना तदा जातीय संस्कारों को ही पुष्ट करेगी। कहने का अभिप्राय केवलमात्र यही है कि मनुष्य जैसे–जैसे कर्म फलों का उपभोक्ता होता है वैसी–वैसी ही वासना भी उसमें पैदा होती रहती है। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य यदि दैविक कर्म विपाक को भोग रहा है तब इस हालत में उसके मन के अन्दर नरक एवं तिर्यक योनि की वासना पैदा हो जाये। ऐसा बिल्कुल नहीं हो सकता। जैसे–जैसे कर्म विपाक को मनुष्य भोगता है वैसी–वैसी वासना भी उसके मन में पैदा होती रहती है। यदि वह दैविक कर्म–विपाक भोगता है तो दैवी वासना और यदि वह कोई कठिन क्लिष्ट घोरतम दु:खदायक संस्कार का उपभोग करता है तो वैसी स्थिति में नरक तिर्यक योनि आदि की वासना ही पैदा हुआ करती है और तदनुसार वैसा ही उसका जन्म भी हो जाया करता है। मनुष्य जीवन की समाप्तिकाल में जैसा–जैसा कर्म–विपाक भोगते हुए मनुष्य अपने शरीर को छोड़ा करता है, वैसा–वैसा ही उसका जन्म भी हुआ करता है। आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में इस सिद्धान्त की ही पुष्टि की है। भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
य: प्रयाति स मद्‌भावं याति नास्त्यत्र संशय:।।
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्‌भावभावित:।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।

गीता 8/5,6,7

अर्थात् शरीर के अन्तकाल में जो व्यक्ति मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मुझको ही प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई भी शंका की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन–जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य देह त्याग करता है वह उन भावों की वैसी ही प्रेरणा पाकर वैसा ही जन्म ग्रहण कर लिया करता है। इसलिये हे अर्जुन! तू हर समय मेरा चिंतन करता हुआ युद्ध कर, ऐसा करने से मुझको ही प्राप्त हो जायेगा।

अत: यह बात सिद्ध हो गयी कि मनुष्य अपने कर्म–विपाक के अनुसार उस समय जैसी उसकी दु:ख या सुख की वासना होती है वैसा ही वह जन्म ग्रहण किया करता है। यही

कारण है कि हमारे सभी सन्तों ने, पुराणों ने एवं इतिहास ने भी मनुष्य जन्म की दुर्लभता बतलाई है। क्योंकि साधारणतया संसार में जन्म लेने वाले सभी मनुष्यों का कर्म–विपाक अधिकांश रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान ही हुआ करता है और पूरा जन्म इन्द्रिय जन्य भोगों को भोगते–भोगते मरणकाल तक मनुष्य बिल्कुल शक्ति से हीन हो जाया करता है। इसलिए मृत्युकाल में जब कठोरम कर्म विपाक को भोगते हुए प्राणों का घर्षण होने लगता है एवं रुक–रुक करके बड़ी कठिनता से श्वांस बाहर आते हैं, उस समय वह दु:ख इतना कष्टदायक होता है कि मनुष्य से कोई शुभचिंतन बन ही नहीं सकता। कठिन कर्म विपाक होने के कारण मृत्युकाल में उसके मन में वासनायें दु:खमयी ही होती हैं, जिनका परिणाम निकलता है कि मनुष्य का वर्तमान जन्म तो समाप्त हो जाता है पर क्लिष्ट कर्म–विपाक की क्लिष्ट वासनाओं के अनुसार ही प्राणी अब तक मनुष्य जन्म में था। प्राणान्त हो जाने के बाद नरक एवं तिर्यक आदि योनि में प्रवेश कर जाया करता है। फिर उन योनियों में जैसे–जैसे दु:खों को वह प्राणी भोगता है तदनुरूप ही उसकी वासनायें बन जाती हैं। ये वासनायें उन्हीं नारकीय एवं तिर्यक आदि योनियों में उसको जन्म देती रहती हैं, क्योंकि ये सब योनियाँ वास्तव में भोग–योनियाँ हैं। इन योनियों में प्राणी कोई शुभाशुभ कर्म तो कर ही नहीं सकता, प्रत्युत जैसे–जैसे कर्मविपाक का वह भोग करता है वैसी ही मृत्युकाल में वासनायें भी बनती हैं और फिर इन वासनाओं के फलस्वरूप अन्यान्य योनियाँ भी मिलती चली जाया करती हैं। संस्कार भोग के अनुरूप प्राय: इसी प्रकार की योनियाँ मिलती रहती हैं। अन्तिम परिणाम यह निकलता है कि एक लम्बे भोगकाल के बाद ही किसी प्रबल पुण्य के बल से हमें पुन: मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुआ करती है। यही कारण है कि हमारे सभी शास्त्र और धर्मपरायण विद्वानों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता बतलाई है। यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य, मनुष्य जन्म धारण करके तीव्रतम तप या स्वाध्याय करे या समाधि लगाये।

सर्व समर्थ सिद्ध महात्माओं की सेवा करे तो वह दृष्टि जन्म संवेदनीय कर्मों को तैयार कर ले। ये दृष्टि जन्म संवेदनीय कर्म बड़े ही तीव्र संवेग हुआ करते हैं जिनको अपने प्रबल प्रभाव से दूसरा उत्तमोत्तम कर्माशय का प्रचय करके मनुष्य जन्म का ही कारण बन जाया करता है। किन्तु यह दृष्टि–जन्म– संवेदनीय कर्माशय सभी मनुष्यों का नहीं हो पाता। साधारणतया सभी मनुष्य प्राय: प्रवृत्तिमार्ग में फँसे रहते हैं और प्रवृत्तिमार्ग के अन्दर किसी प्रकार का अध्यात्म विकास जप, तप और संयम प्राय: बन ही नहीं पाता है। सन्त, महात्मा, तपस्वी एवं सर्वसमर्थ सिद्ध लोगों की सेवा का अवसर ही नहीं निकल पाता। अत: मनुष्य के अपने साधारण प्रारब्ध के अनुसार जैसा–जैसा कर्म–विपाक होता है, उसी का उपभोग मनुष्य कर पाता है। भगवान की त्रिगुणात्मिका माया का बन्धन इतना बुरा है कि कोई मनुष्य उसको तोड़ नहीं पाता। कोई–कोई बिरले भाग्यवान ही ऐसे होते हैं

जो इन माया–बन्धनों से मुक्त होकर अपने भविष्य का उत्तम निर्माण कर लें अन्यथा **'गतानुगतिकोलोक:'** के नियमानुसार मनुष्य अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ चलता रहता है। और यह प्रारब्ध प्राय: रजोगुण–तमोगुण प्रधान होने के कारण क्लेश और प्रवृत्ति का दाता ही रहता है, जिसके कारण भव–बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ हो जाया करता है। केवलमात्र कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही परमात्मा की कृपापूर्वक महापुरुषों का सत्संग लाभ प्राप्त करता है। और उस सत्संग लाभ को प्राप्त करके अपने आप को दुष्प्रवृत्तियों से निकालकर वह शुभ प्रवृत्तियों की ओर बढ़ जाया करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए मनुष्य जन्म की दुर्लभता नहीं रहती। प्रत्युत उन दृश्य जन्म संवेदनीय कर्मों की प्रेरणा को पाकर अपनी उत्तमोत्तम प्रगति को वह बढ़ा लिया करता है तथा मनुष्य जन्म की दुर्बलता को हटाकर सुलभता की ओर बढ़ जाया करता है। जो मनुष्य यह जीवन धारण करके अपने आप को तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान एवं महापुरुषों की सेवा करता रहता है तथा अपनी इन्द्रियों पर निग्रह करके अपने आप को ध्यानयोग परायण बना लेता है, उसका कठिन कर्म–विपाक भी बहुत सूक्ष्म होकर निबट जाया करता है। योगदर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने कर्म–जाति के चार मार्ग लिखे हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार के कर्म होते हैं जो कर्माशय में प्रसुप्त रहा करते हैं एवं कुछ कर्म ऐसे हुआ करते हैं, जो उपभोग काल में हल्के बन जाया करते हैं। अर्थात् उनका तन्वीयकरण हो जाया करता है। एवं कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो दूसरे कर्म के तीव्रतम भुगतान में आकर विच्छिन्न हो जाया करते हैं। और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जो उदार कहलाते हैं। इन सभी कर्मों की मूल अविद्या कहलाती है। किन–किन प्रकार के कर्म विपाकों का किस–किस प्रकार भुगतान होता है और साधक अपने आप को 'दृश्य जन्म संवेदनीय कर्मों के द्वारा कैसे अपने आपको उन्नत कर सकता है, इसका व्याख्यान इस निम्नांकित सूत्र में हम पाठकों को समझा देना चाहते हैं। सूत्र इस प्रकार है –

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।।4।।

अर्थात् प्रसुप्ततनु, विच्छिन्न एवं उदार संस्कारों की जननी अविद्या होती है। श्री व्यासदेव ने अपने व्यास भाष्य में किन संस्कारों का किस प्रकार से भुगतान होता है, इसको बहुत ही स्पष्टतया समझाकर लिखा है। जिससे हर साधक यह भली प्रकार से समझ सकता है कि अपने कठिन कर्म विपाक को किस प्रकार जल्दी से जल्दी निबटा करके वह उत्तम प्रारब्ध बना सकता है। पढ़िये श्री व्यासदेव जी का भाष्य –

अत्राविद्या क्षेत्रम्–प्रसवभूमि: उत्तरेषाम्–अस्मिताऽऽदीनां चतुर्विधकल्पितां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् तत्र काप्रसुप्ति:? चेतसिशक्तिमात्र प्रतिष्ठानां बीजभावोपगम:, तस्यप्रबोध आलम्बने संमुखीभाव: प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्यकुत:प्ररोह इति। अत: क्षीणक्लेश:

पूज्य गुरुदेव भगवान!

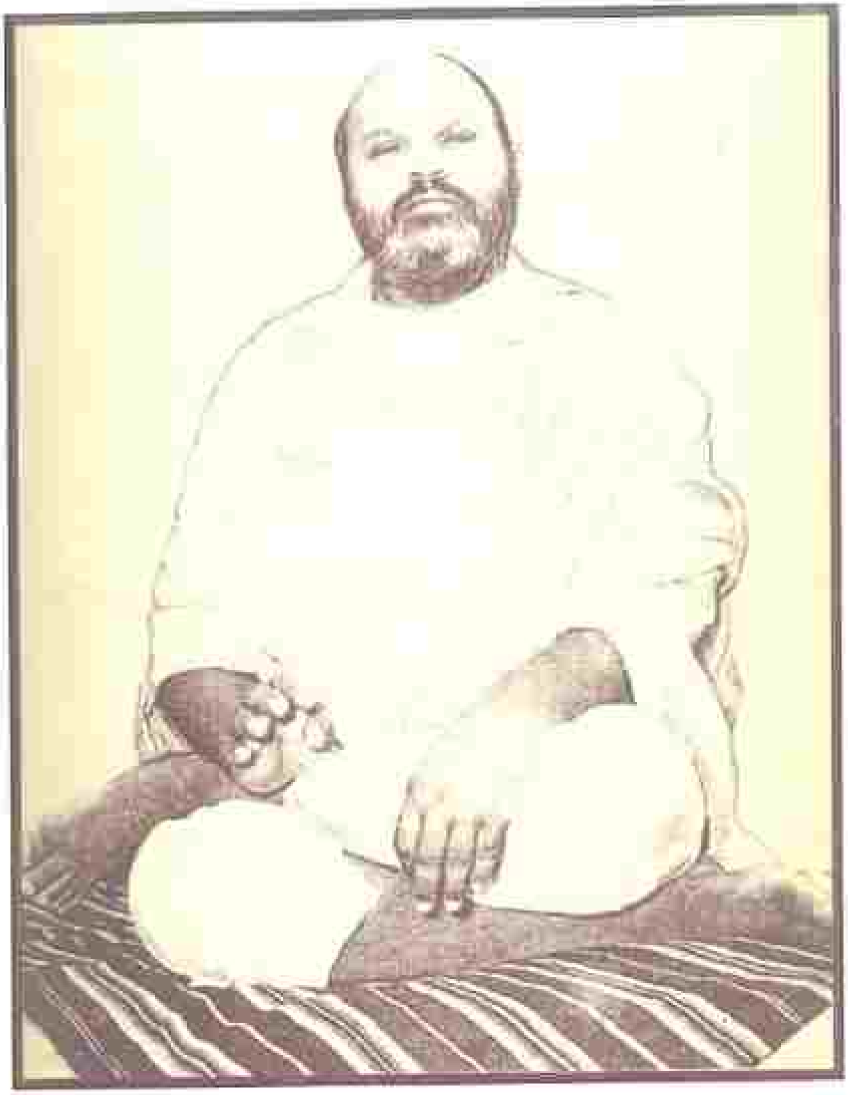

योगयोगेश्वर

अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पंचमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपिसति न भवत्येरूषं प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिः दग्धबीजानामप्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते। प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मा पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः, कथं रागकाले क्रोधस्यादर्शनाद् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्तनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वप्रत्ययं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति उच्यते सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यंजकांजोनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यद्विद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति।।4।।

अविद्या आदि पाँचों क्लेश ही संस्कार से बद्ध करके प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्ना और उदार रूप धारण किया करते हैं। इन चारों प्रकार के सुषुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप संस्कारों का क्या रूपक है? वह यहाँ समझाया गया है। योगाचार्य श्री व्यासदेव जी महाराज ने संस्कारों की इन चारों अवस्थाओं को इस प्रकार से वर्णित किया है – प्रसुप्त संस्कार ऐसे योगी लोगों के हुआ करते हैं जो अपने योगध्यान के बल से पूर्णरूपेण स्वरूपावस्थित हो चुकते हैं एवं प्रतिक्षण अपने नित्य शाश्वत् स्वरूप में लीन रहा करते हैं। उनके ये संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं, क्योंकि वह योगी चर्मदेही है, अर्थात् उसका यह शरीर पिछला शरीर है। जब तक वह अपने इस शरीर को इस लोक में रखना चाहेगा तब तक ही वृत्ति सारूप्य के कारण निमित्तमात्र संस्कारों का उपभोक्ता बना रहेगा। साधारण रूप से कहने मात्र के लिए लौकिक व्यवहार खाना, पीना, सोना, उठना–बैठना आदि कार्य करता रहेगा, उसके अन्तःकरण में जन्म जन्मान्तर के जो प्रसुप्त संस्कार पड़े हुए हैं, ऐसे योगी के प्रसन्ख्यान बल से दग्धबीज हो जाया करते हैं, और दग्धबीज हो जाने पर उनको पुनः उपपत्ति नहीं हुआ करती।

ऐसा होना एक नियम की बात है, जैसे कि खेत में बोये जाने वाले बीजों को यदि हम अग्नि में भून करके उनकी जनन शक्ति को जला दें और फिर उन भुने हुए बीजों को किसी उपजाऊ जमीन में भी बो दें, तो वे पैदा नहीं हुआ करते। क्योंकि उनकी बीज शक्ति अग्नि से जल चुकी है। इसी प्रकार जो योगी परावर दर्शन के बाद क्लेशों से अभिभूत नहीं

होते एवं अपने आत्मस्वरूप में प्रतिक्षण स्थित रहा करते हैं, उनके अन्तःकरण में जो संस्कार जन्म जन्मान्तरों से प्रसुप्त रूप से पड़े हुए हैं वे केवलमात्र बीज भाव से अवस्थित रहते हैं, किन्तु निर्बीज समाज में समाधिस्थ रहने वाला योगी अपने प्रसन्ख्यान बल से ऐसे सभी प्रसुप्त संस्कारों की प्रारोहण शक्ति को जला चुका है। अतः उनकी पुनरोत्पत्ति नहीं होती। ऐसे चरमदेहधारी योगी के सामने यदि किसी प्रकार का कोई विषम जाल आ भी जाता है तो वह विषम जाल उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि वह योगी अपने उन संस्कारों को प्रारोहण शक्ति रहित अर्थात् दग्धबीज बना चुका है। ऐसी स्थिति को ही प्रसुप्त रूप से वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त प्रतिपक्ष से दबाये हुए संस्कार हल्के हो जाया करते हैं। यही उन संस्कारों का तन्वीकरण कहलाता है।

श्री व्यासदेव जी ने एक उदाहरण देकर के संस्कारों के तन्वीकरण की बात भी समझायी है, उसको इस प्रकार से समझ लेना चाहिये। जैसे किसी व्यक्ति के मन में किसी के प्रति राग बनता है तो वह व्यक्ति उस रागकाल में उस दूसरे व्यक्ति को अपने प्यार का ही प्रदर्शन करता है। रागकाल में उसके प्रति क्रोध नहीं आता, यद्यपि क्रोध भी क्लेशान्तर्गत एक वृत्ति है। किन्तु रागकाल में रागलब्ध-वृत्ति उभरती है और क्रोध विच्छिन्न या तनुत्व को प्राप्त हुआ करता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि राग करने वाले व्यक्ति के मन के अन्दर क्रोध निर्बीज हो गया है। ऐसी बात नहीं। रागकाल में क्रोध का निर्बीजत्व तो नहीं है, किन्तु उस समय राग करने वाले व्यक्ति के मन में क्रोध भी हल्केपन से बीज रूप से रहा तो करता है, किन्तु उस समय रागलब्ध व्यक्ति उदार है और क्रोध बीज रूप से मन में स्थित तो है, किन्तु उस समय राग की प्रधानता के कारण राग उदार क्लेश है, अर्थात् लब्धवृत्ति है एवं क्रोधादि अन्य संस्कार या तो विच्छिन्न हो जाते हैं या उनका तन्वीकरण हो करके बहुत ही हल्केपन के साथ बीज रूप से विद्यमान रहा करते हैं।

यहाँ पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने चैत्र नामक किसी व्यक्ति को उदाहरण में रखकर के इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। चैत्र नामक कोई व्यक्ति किसी स्त्री में अनुराग करता है तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उसके अन्दर उस समय क्रोध समाप्त हो चुका है। खत्म तो नहीं हुआ किन्तु जिसके प्रति राग किया जा रहा है उसके प्रति रागलब्ध-वृत्ति उदार रूप से विद्यमान है और क्रोधादिक अन्य वृत्तियां उस समय विच्छिन्नता या तनुत्व के रूप को धारण कर चुकी है, यह राग भी उस समय उस एक व्यक्ति में लब्धवृत्ति एवं उदार है, किन्तु कालान्तर में अर्थात् भविष्यत् वृत्ति में यहाँ यह तनुत्व को प्राप्त हो जाये और किसी और दूसरे व्यक्ति में लब्धवृत्ति होकर उदारता को प्राप्त हो जाये या इधर से बिल्कुल ही विच्छिन्नता को प्राप्त हो जाये। इस प्रकार जो योगी ध्यानप्रवाह वाले बन जाया करते हैं वे अपने संस्कारों का भुगतान बहुत ही सूक्ष्मता के साथ कर लिया करते

है।

जो लोग चरमदेही हो जाते हैं वे तो अपने संस्कारों का दग्धबीज कर ही डालते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त जो ध्यानयोगी हैं और उनकी ध्यानयोग की वृत्ति अन्तर्जगत में रहा करती है अर्थात् बाहरी दुनियाँ को न देखकर प्रति क्षण अन्तर्जगत में लीन रहा करते हैं, अर्थात् जो सम्प्रज्ञात समाधि में प्रख्या प्रवृत्ति स्थितिशील पंच–महाभूतात्मक एवं पंच–ज्ञानेन्द्रियात्मक दृश्य को अन्तर्दृष्टि द्वारा अपवर्गार्थ देखते हैं, ऐसे योगी उस समाधिकाल में आने वाले उस प्रबल संस्कार को भी सूक्ष्म में भोग करके ही समाप्त कर दिया करते हैं।

मेरे परम गुरुदेव आनन्दकन्द योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी के चरित्रों में कितनी ही ऐसी घटनायें वर्णित हैं, जिनमें बहुत ही अवश्यंभावी संस्कार जो शरीर में भोगरूप से आने वाले थे, वे सभी संस्कार साधकों के समाधिष्ठ होने के कारण बिल्कुल ही सूक्ष्म रूप से निबट गये। उदाहरण के लिए – एक योगाभ्यासी साधक की आपबीती घटना सूक्ष्मरूप में केवलमात्र सिद्धांत को समझाने के लिए लिखी जाती है।

यह व्यक्ति जिस समय आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में दीक्षित हुआ उससे पहले से ही कोई व्यक्ति उसके धन का अपहरण करने के लिए इसके प्रति घातक वृत्ति रखता था। उसका यह प्रबल संस्कार बन चुका था कि इस व्यक्ति को किसी भी प्रकार का प्रलोभन देकर मार दिया जाय। किन्तु प्रयास करने पर भी वह अपनी मनोवृत्तियों को सफल नहीं बना सका था। जिस समय यह व्यक्ति योग दीक्षा प्राप्त करके अन्तर्जगत में प्रविष्ट हुआ और बराबर ध्यानाभ्यास करने लगा तो कुछ दिन के अभ्यास के बाद उसने ध्यान में देखा कि वह व्यक्ति आया है और उसने अपने मनवांछित तरीके से उसके धन का अपहरण कर लिया है और उसके शरीर में तीव्र शस्त्र झोंक कर उसकी मृत्यु कर डाली है। सूक्ष्म जगत में उसने इस दृश्य को देख लिया और भुगतान कर लिया। निबटने वाला संस्कार सूक्ष्म में निबट गया। ध्यानाभ्यास से उठने के बाद सूक्ष्म शरीर में जहाँ शस्त्र प्रहार हुआ था, वह स्थान काफी दर्दयुक्त कई रोज तक अनुभव में आता रहा, किन्तु इस संस्कार के भुगत जाने के बाद उस व्यक्ति के साथ इसका न कोई विरोध रहा और न ही प्रतिघाती व्यक्ति का कोई विरोधी धन के अपहरण की भावना से जो उस व्यक्ति का द्वेष उसके प्रति चलता था वह बिल्कुल ही ऐसे समाप्त हो गया जैसे कोई विरोधी संस्कार था ही नहीं। इसी का अर्थ यह कि उसका यह प्रबल संस्कार तनुत्वेन भुगत भी गया और बाद में विच्छिन्न भी हो गया।

इस प्रकार जो ध्यानाभ्यासी लोग हैं उनके संस्कार ध्यानयोग के प्रभाव से तनु होकर विच्छिन्न हो जाया करते हैं। फिर उनका स्थूल शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बस आजकल लोक–प्रवाह में भी कई एक लोग स्वप्न ज्ञान की बातें कहा करते हैं, यदि

स्वप्न में कोई व्यक्ति अपने आप को मरते हुए देख लेता है तो उसका फल सभी लोग बतलाया करते हैं कि बस ! आयु बढ़ गयी। उसका अर्थ सही है कि कोई कठिन कर्मविपाक तो था ही किन्तु वह अन्तर्जगत में ही निबट गया। इसलिए योगाभ्यासी साधकों को चाहिये कि वे लोग प्रकाश–क्रिया स्थितिशील, पंचमहाभूतात्मक एवं पंच–ज्ञानेन्द्रियात्मक इस दृश्य का अपवर्गार्थ दर्शन करें। जो लोग अन्तर्जगत के दृष्टा बन करके सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश कर जायेंगे, उनके उदार संस्कार ही लब्धवृत्ति न होकर के तनु एवं विच्छिन्नता का रूप अवश्य ही धारण कर लेंगे। ऐसी स्थिति में साधक अनेक प्रकार की लौकिक व्याधाओं से बिल्कुल–बिल्कुल निकल जायेगा और यही अन्तर्जगत के दृश्य उस साधक को उत्तरोत्तर योगारूढ़ करते चले जायेंगे। यह एक स्वाभाविक नियम की बात है।

जब कोई योगी योगाभ्यास करता है तो उसकी अन्तरात्मा में छुपे रहने वाले वह परम गुरु जो कालगति से सदा ही परे हैं, उसको अन्तःप्रेरणा देते रहेंगे और साधक यह भली प्रकार से समझता रहेगा कि उसके बाद यह भूमिका है और उसके बाद यह दूसरी अन्तःभूमि है। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ साधक अपने कर्म विपाक को दृश्य–जन्मसंवेदनीय संस्कारों के साथ बिल्कुल निर्मल बनाकर के वासनाओं का क्षय भी कर डालेगा। जिसके फलस्वरूप जन्म–मरण के चक्र से वह बिल्कुल बच जाने का अवसर पा लेगा।

▣▣▣

"तुम घबराकर जब उस जाल से निकलना चाहते हो, माया को छोड़ना चाहते हो, तब अनायास ही तुम्हें मायापति भगवान् का स्मरण होता है। तुम उन्हें पुकारते हो, व्याकुल होकर उनकी टेर लगाते हो तो वे तत्काल आकर जाल काट डालते हैं और तब तुम माया को छोड़–उनकी माया उन्हें सौंपकर, परम शुद्ध आनन्दमय हो जाते हो; पर इसका साधना शुरू करनी होती है स्वार्थ-त्याग से।"

सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का पावन प्राकट्य दिवस

आचार्य ब्रह्मचारी श्री दासलाल

सद्गुरुदेव आनन्दकन्द श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का पावन प्राकट्य ईस्वी सन् 1909 को हरियाणा प्रान्त में पानीपत जिला में अलूपुर गाँव मे विजय दशहरा के पावन दिन हुआ था। आप को अवतारी कहें, योगी कहें, सद्गुरु कहें, इष्टदेव कहें या आत्मदेव कहें, सभी संज्ञायें आपके लिए उपयुक्त हैं। भगवान् अखिलात्मा त्रिगुण पावन श्री कृष्णचन्द्र जी का तादात्म्य प्राप्त परम योगी गुरुदेव चन्द्रमोहन 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार अपने नाम को चरितार्थ किये हुए है। महापुरुष जिस भूमि पर अवतरित होते है उसे पहले ही चुन लेते है। गुरुदेव ने अपनी संक्षिप्त जीवन कथा 'दिव्य जीवन दर्शन' में इस बात को बताया है कि ध्यान योग में अवस्थित होकर उन्होंने पूर्व जन्म का वृत्तान्त देखना चाहा तो अनुभव किया कि यह शरीर काफी वृद्ध व जर्जर हो गया है। थोड़ी देर में वह शरीर छूटने लगा और वे तेजोमय शरीर से सर्वत्र घूम रहे हैं। अन्त में अलूपुर गाँव मे जहाँ इनका प्राकट्य हुआ है, उस घर पर तेजपुंज स्थिर हो गया। कैसे प्राकट्य हुआ है इस बात का उन्हें स्मरण नही है। जन्म लेने के बाद शैशवावस्था मे ही सोते जागते, खाते–पीते हर समय भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी का साक्षात्कार बना रहने लगा। आत्म तेज पुंज से ओत–प्रोत अपने को देखा करते थे। जागृतावस्था में भगवान श्रीकृष्ण जी के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलते व लीलायें करते रहते थे। बाल्यावस्था इसी प्रकार से बीती।

दो भिन्न धाराओं का अद्भुत सम्मिश्रण

गुरुदेव योगिराज जी के जीवन दर्शन में दो भिन्न धाराओं का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। गुरुदेव की पूज्या माँ धरती देवी पौराणिक विचारों की थी। वे गुरुदेव को सनातन उपाख्यान सुनाया करती थीं। पूज्य पिता श्री पं देवीराम जी कट्टर आर्य–विचारों के थे। उन्होंने अपना सारा जीवन – तन, मन, धन आर्य विचारों के प्रचार–प्रसार में लगाया। स्वयं दक्षिण भारत के हैदराबाद क्षेत्र में आर्य विचारों का उपदेश करते थे। सद्गुरु भगवान सनातन धारा मे साकार ब्रह्म की उपासना एवं विचारों से ओतप्रोत थे। जन्म जन्मान्तर से योगी थे। इसलिए प्राक्तन संस्कारों के अनुसार भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र के स्वरूप में तादात्म्य रखने वाले महापुरुष थे। इस कारण से बचपन में ही भगवत् साक्षात्कार बना रहता था। बड़े होने पर इनकी शिक्षा भी आर्य समाज की संस्थाओं में हुई। उच्च शिक्षा लाहौर में पाई। पद्म विभूषण

से अलंकृत आचार्य विश्वबन्धु जी के महाविद्यालय में इनकी संस्कृत एवं दर्शन वाङ्मय की शिक्षा सम्पन्न हुई।

इस प्रकार से उनके जीवन में आर्य समाज के विचारों का भी आदर था। किंतु पूर्ण रूप से आर्य विचारों से सहमत नहीं थे। फिर भी स्वामी दयानन्द जी के आदर्श, विचार एवं व्यक्तित्व की छाप गुरुदेव के जीवन में देखने को मिलती है। भगवान् कृष्ण को वे सामान्य योगी ही नहीं मानते थे अपितु अखिलात्मा जगतपावन परब्रह्म परमेश्वर मानते थे। गुरुदेव श्रोत्रीय एवं ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष के शरण में आकर योग विद्या को सीखने का आदेश है। गुरुदेव योग शास्त्र व उपनिषदों के पारंगत थे साथ ही योगानुभूति से परिपूर्ण थे। उन्हें ही ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष शास्त्रों में कहा गया है।

15–16 वर्ष की अल्पायु में ही आपको अपने गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का दिव्य सानिध्य प्राप्त हो गया। योग–दीक्षा लेने के बाद आप श्री वृन्दावन धाम चले गये। जाते समय श्री प्रभु जी ने गुरुदेव जी को आज्ञा दी कि वृन्दावन में रहते हुए प्रातः 5 से 7 बजे का समय हमेशा ही ध्यानाभ्यास में लगाना। गुरुदेव भगवान कहा करते थे कि उन्होंने हमेशा इस आज्ञा का पालन किया। श्री प्रभु जी ने इन्हें अपने समय में ही योग दीक्षा देने की आज्ञा प्रदान कर दी थी। एक दिन ऋषिकेश आश्रम में निवास करते हुए एक आर्य सन्यासी योग दीक्षा लेने के लिए गुरुदेव के पास आये। गुरुदेव ने एक पत्र आनन्दकन्द श्री प्रभु जी को अल्मोड़ा भेजा और पूछा– ''एक सन्यासी दीक्षा लेने के लिए आये हैं, क्या मैं उसे दीक्षा दे सकता हूँ।'' श्री प्रभुजी ने उत्तर में लिखा – ''तुम उन्हें अवश्य दीक्षा दो, चाहे कोई सन्यासी या और कोई हो पात्रता देखकर अवश्य दीक्षा देना।'' ये सन्यासी ब्रह्मचारी भीष्म थे और घरौण्डा करनाल में निवास करते थे। श्री प्रभु जी ने अपने पत्र में यह भी लिखा था– 'तुम सब प्रकार से समर्थ हो। तुम्हें सर्व शक्तिमान ने वृन्दावन निवास काल में ही सर्वशक्तियाँ दे दी हैं।'' श्री गुरुदेव भगवान अपने मुखारविन्द से कहा करते थे कि श्री प्रभु जी की कृपा से ऐसी कोई योग की विभूति या सिद्धि अवशेष नहीं है जिसे उन्होंने प्राप्त न किया हो।

सन् 1938 में श्री प्रभु जी के लीला संवरण के पश्चात् गुरुदेव जी ने श्री सिद्ध गुफा सांवाई को ही अपना कार्यक्षेत्र चुना और यहीं से योग प्रचार का व्यापक कार्यक्रम आरम्भ किया। सुडौल, ठोस वपु, मृदुभाषी, अत्यन्त सरल स्वभाव, निरभिमानिता आदि दिव्य एवं अलौकिक गुणों के स्वामी थे हमारे गुरुदेव जी। बड़े से बड़े कार्यों की उच्चतम उपलब्धि के लिए हमेशा वे कहा करते थे कि 'श्री प्रभु जी ही करण–कारण हैं, उनकी कृपा से ही सब कुछ हो रहा है।' शिष्यों को योग दीक्षा देते समय अपने गुरुदेव श्री प्रभु जी का स्वरूप अपनी छाती से लगाकर, अपने को निमित्त मानकर शक्तिपात योग दीक्षा देते थे। दीक्षा देते ही उज्जवल संस्कार वाले साधकों को हठयोग से प्राण–शोधन कुण्डलिनी जागरण की अद्भुत क्रियायें स्वतः ही होने लगती थीं। इसमें गुरुदेव का संकल्प ही कारण होता था। साधक को नहीं पता होता था कि ये

सब क्या और क्यों हो रहा है? किंतु कुण्डलिनी के मार्ग का शोधन गुरुदेव के संकल्प से स्वतः होता था। वे प्रायः ही कहा करते थे। 'हलुआ तो उनका ही है मैं तो कलछी की तरह बनकर हलुआ परोस रहा हूँ।' कितने उदात्त भाव थे गुरुदेव के! महापुरुष कैसे व कौन होते हैं? इसका उत्तर व्यक्तित्व एवं आचरण से मिल जाता था। अत्यन्त कोमल चित्त था उनका। कभी किसी पर क्रोध नहीं करते थे। भला आत्मनिष्ठ योगी किससे क्यों क्रोध करे। गुरुदेव ने जहाँ योग के सिद्धान्तों को अपने शिष्यों के अन्दर कूट-कूट कर भर दिया था, वहीं पर योग की गुप्त क्रियायें स्वतः ही होती थीं। इस प्रकार से **'यस्तु क्रियावान सः पण्डितः'** इस उक्ति को गुरुदेव के चरणों में चरितार्थ होते देखा जाता था। इन सब क्रियाओं के पीछे गुरुदेव का परम आह्लाद ही कारण होता था। परम दयालु गुरुदेव अपने बच्चों के सकल मनोरथ को पूर्ण करने वाले होते हैं। किसी भी परेशानी, संकट में जो उनका चिन्तन करता है उनके वे सब संकट तत्काल दूर हो जाया करते हैं। शिष्य के लिए गुरुदेव चिन्ताहरण देव होते हैं। शिष्य नाम रूप से गुरुदेव का नाम व रूप से जुड़ा होता है। इसलिए शिष्य के चित्त में उनकी स्मृति व आकृति प्रतिबिम्बित रहती है। गुरुदेव अपने श्रीमुख से स्वयं कहा करते थे– ''जहाँ इष्ट होता है वहाँ कभी अनिष्ट नहीं हुआ करता।'' शास्त्रों में आया है– गुरुदेव, इष्टदेव व आत्मदेव में कभी भेद नहीं मानना चाहिए। गुरुगीता में सिद्धगुरु को भी परम तत्व कहा है– **''नास्ति तत्वं गुरोः परम्ः।''** गुरुदेव से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। सिद्धगुरु ही अपने विनयशील शिष्यों पर शक्तिपात कर सकता है। योग दर्शन के व्यास भाष्य में आया है **''ब्रह्मचारी विनयेशु शक्तिमाधातुम् समर्थो भवति।''** अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में योग शक्ति का आधान कर सकता है। आजकल थोड़े से योग की क्रियाओं को जानने वाले असंयमी लोग शक्तिपात एवं कुण्डलिनी जागरण करा देने का दम भरते हैं। जो नितान्त भ्रामक है। महाप्रभु रामलाल जी महाराज एवं उनके शिष्य गुरुदेव योगीराज जी जैसे समर्थ सिद्ध ही अपने संकल्प मात्र से शिष्यों में शक्ति प्रक्षेप कर सकते हैं। साधारण योगियों में सामर्थ्य नहीं होती। गुरुदेव ने योग के क्षेत्र में जो भी कार्य किये हैं उन्हें योगि समाज कभी नहीं भूल सकता। वे **''नक्षत्राणां शशी''** की तरह योग के नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा की भाँति शोभायमान रहते थे। कई अखिल भारतीय योग-सम्मेलनों में तथा विश्व योग सम्मेलनों में उन्होंने अध्यक्ष पद को अलंकृत किया। सन् 1986 में विश्व योग सम्मेलन में उन्होंने अध्यक्ष पद को शोभायमान किया। तत्कालीन राष्ट्रपति श्री ज्ञानी-जैलसिंह जी ने उन्हें इस विराट सम्मेलन में योग शिरोमणि उपाधि से विभूषित किया। राजनैतिक क्षेत्र के भक्तों में स्व. राजनारायण का नाम प्रथम आता है। वे आपके परम भक्त एवं योग निष्ठ बच्चे थे। इनके स्वभाव, त्याग एवं गुरु निष्ठा से गुरुदेव अति प्रसन्न रहते थे। यही कारण था कि मृत्यु के अन्तिम क्षणों में तथा देह त्याग के बाद अन्त्येष्टि संस्कार के समय वाराणसी में गुरुदेव विद्यमान रहे और हृदय से नेताजी को आशीर्वाद देते रहे और उसका उद्धार किया।

सन् 1978–79 में केन्द्र सरकार के 'योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा' के अन्तर्गत योग के तकनीकि विभाग के अध्यक्ष रहे। उसी समय योग आश्रमों को अनुदान आदि देना तथा योग विद्या को सभी विद्यालयों में एक मुख्य विषय के रूप में सम्मिलित करने के कार्य का सूत्र गुरुदेव ने ही किया था। इस प्रकार से योग विद्या को हर व्यक्ति के लिए उपादेय बनाने का उनका संकल्प रहा है। योग से ही मनुष्य का सब प्रकार का कल्याण हो सकता है यही हमेशा उनका कहना था।

गुरुदेव अपने भक्तों के लिए 'कल्पतरु' के समान हैं उनसे जो जैसा माँगता है वही वे देते हैं। योग विद्या के अमर साधन को पाकर जहाँ लाखों शिष्य गृहस्थ आश्रम में रहकर साधना कर रहे हैं वहाँ गुफा कन्दराओं में रहकर साधनारत साधकों की भी कमी नहीं है। योग की उच्चतम भूमिकाओं के स्वामी हैं वे। अपने बच्चों के प्राणाधार हैं गुरुदेव! इस वर्ष विजय दशहरा के पावन पर्व पर 17 अक्टूबर को उनके शिष्य सभी आश्रमों में उनके पावन प्राकट्य दिवस– जन्म दिवस मना रहे हैं। इस अवसर पर उनके परम–पावन चरण कमलों में शत् शत् नमन।

▣ ▣ ▣

सूचना

श्री सिद्धगुफा संवाई धाम में श्री गुरुदेव जी का 101 वाँ ***''जन्म शताब्दी महोत्सव''*** 17 अक्टूबर 2010 को बड़ी धूम धाम से मनाया जा रहा है। सभी गुरुभाई–बहनों से निवेदन है कि उत्सव में आकर पुण्य अर्जित करें व उत्सव की शोभा बढ़ायें।

निवेदक

समस्त ब्रह्मचारीगण

श्री सिद्धगुफा सवाँई, आगरा

कामाख्या की यात्रा में सत्संग लाभ

डा. विजय सिंह

ज्यों–ज्यों ट्रेन आसाम प्रांत के अन्दुरूनी भाग में प्रवेश कर रहा है, वन वल्लरियाँ सघन तर होती जा रही हैं। दोनों ओर सघन वन प्रान्तर फैला हुआ है। गाँव–गिरवान कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा है। थोड़े अन्तराल के बाद कामाख्या स्टेशन आने वाला है। परंतु ट्रेन मंथर गति तथा कभी कदा रुक–रुक कर चल रही है। इस बीच महाशय ने अपना अल्प यात्रा सामान सहेज लिया है। हँस कर बोले आपका साथ याद रहेगा पुनः न जाने फिर भेंट हो या न हो।

मैंने स्वीकार में सिर हिलाया और बोला अभी तो ट्रेन पाँच–सात घण्टे लेट हो गयी है और न जाने कितनी देरी अभी और होना है। क्यों न ? आप कुछ सदवार्ता से समय का सद उपयोग हमें करावें। गम्भीर मनोभाव में कुछ देर मौन रहकर बोले–आप! कासी और गोरखपुर से जुड़े रहे हैं। महात्मा कबीर की निर्वाण स्थली मगहर गोरखपुर के पास ही है। हमारे लेखे यह महापुरुष एक युगान्तर कारी संत–सदगुरु और पूर्ण योगी थे।

मैं सहमति में सिर हिलाया और कहा– एक महान गुरुभक्त जिसकी मिसाल अनोखी है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पांय।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो लखाय।।

महानुभाव बोले– जहाँ श्री कबीर भक्त ह्रदय योगी हैं वहीं उस काल में फैले धर्म पाखण्ड पर प्रहार करने वाले कठोर समाज सुधारक भी हैं।

जैसा आपने कहा कि वे महान गुरु भक्त हैं इससे मैं पूर्ण सहमत हूँ परंतु पाखण्डी गुरुओं और लोभी चेलों की भी खूब खबर अपनी वानियों में ली है। जहाँ सदगुरु महिमा में लिखते हैं–

सब धरती कागज करूं, लिखनी सब वन राय।
सात समुद्र की मसि करूं, गुरु गुण लिखा न जाय।।

गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलें न मोक्ष।
गुरु बिन लखै न सत्य कोई, गुरु बिन मिटै न दोष।।
श्री गुरु मूरति चन्दमा, सेवक नयन चकोर।

आठ पहर निरखत रहे, श्री चरणनन की ओर।।

सोइ सोइ नाच नाचिये, जेहि निबहे गुरु प्रेम।

कहँ कबीर गुरु प्रेम बिन, कबहूँ कुशल नहिं क्षेम।।

यहीं अपूर्ण एवं पाखण्डी गुरुओं एवं शिष्यों की भी खूब खबर लिया है।

गुरु लोभी शिष लालची, दोनों खेलें दांव।

दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर के नाव।।

जाका गुरु है आँधरा, चेला खरा निरंध।

अंधे को अंधा मिला, पड़ा काल के फन्द।।

मैंने कहा– यह तो अत्यन्त आँख खोलने वाले कठोर सत्य का उद्घाटन महात्मा ने किया है। वे हँस कर बोले श्री प्रभु की माया अत्यन्त दुस्तर है आज विश्व में धर्म के नाम पर जो व्यापार हो रहा है वह वैसा ही है जैसे स्वयं में बँधा हुआ व्यक्ति दूसरे बँधे व्यक्ति को यह आश्वस्त करे कि हम तुम्हें निर्बन्ध कर देंगे। यह कैसे सम्भव है ? जब व्यक्ति स्वयं बँधा है।

शिष किरपिन गुरु स्वारथी, मिले योग यह आय।

कीच–कीच के दाग को, कैसे सके छुड़ाय।।

आगे अन्धा कूप में, दूजा लिया बुलाय।

दोनों बूड़े बापुरो, निकसे कौन उपाय।।

महानुभाव ने बड़ी उदासी के साथ बोले– श्री कबीर के काल में भी पौरोहित्य का पाखण्ड, जात–पांति का विभ्रम खूब फैला हुआ था। इसलिए वे–लोग बात कबीर कहते हैं–

कहता हूँ कहि जात हूँ, देता हूँ हेला।

गुरु की करनी गुरु जाने चेला की चेला।।

सुनो! सभी सुनो। मेरा यह सत्य मत सुनो। गुरु अपना किया। भोगेंगे और शिष्य अपना किया भोगेगा।

गुरुवा तो सस्ता भया, कौड़ी अर्थ पचास।

अपने तन की सुधि नहीं, और तारन की आस।।

धन लोभी गुरुओं को अपने शरीर के रोग एवं आचरण का तो होश होता नहीं, परंतु अन्यों को तारने की आसा बंधाता है यह कैसा आश्चर्य है।

मेरा मन खराब होने लगा अतः महानुभाव से बोला–आप द्वारा कबीर वाणी द्वारा दिये उद्बोधन सही हैं परंतु साधक की पात्रता ही न हो तो गुरु क्या करें? आप पात्रता की बात करते हैं? योग–सिद्ध होना क्या हँसी खेल है। 'अनेक जन्म संसिद्ध' गीता में स्वयं जगदाता योगेश्वर कृष्ण कह रहे हैं। साधना का कोई भी पद्धति हो पात्रता के बिना पहुँच

कहाँ होगा सद्गुरु शिवः स्वरूप साक्षात् हैं। मात्र उनकी प्रसन्नता से ही शिष्य में अध्यात्म उठते–बैठते, चलते–फिरते प्रकाशित हो उठता है। सद्गुरु सामिप्य, सद्गुरु आज्ञा पालन, निजत्व का त्याग के बिना इस मार्ग में भी अनेक बाधायें उपस्थिति होती हैं। श्री कबीर का एक कथन है–

सतगुरु शरण न आवहीं, फिर–फिर होय अकाज।
जीव खोय सब जायेंगे, काल तिंहू पुर राज।।

जो शिष्य सद्गुरु शरणापन्न न होकर, दीक्षा लेकर मनमानी कल्पति देवों की आराधना करता रहता है उसे बारम्बार जन्म लेना होगा। सद्गुरु में ही अपनी आपा खोने वाला साधक शिष्य सद्गुरु स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। स्वयं कबीर जी कहते हैं जिस परम पद को खोजते हुए ब्रह्म थक गये और थाह न पास के तो भला सुर, नर, मुनि और देवताओं का कहना क्या? हे संतों मेरी सुनो मैं स्वयं हर समय सद्गुरु की सेवा करता हूँ जो मोक्ष दाता हैं।

जेहि खोजत ब्रह्म थके, सुर नर मुनि अरु देव।
कहँ कबीर सुन साधवा, करूं सत्गुरु की सेव।।
गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हरष शेष व्यापे नहीं, तब गुरु आपे आप।।

मैंने कहा – सत्य कथन है, 'नास्ति तत्वं गुरोः परम'। जिन देवताओं का कल्पित चित्र एवं मूर्त्तियाँ सर्वत्र देश में पूजी जा रही हैं वह धारणा के हेतु तो उपयोगी हैं परन्तु केवल कर्मकाण्ड के दृष्टि से कितना आध्यात्मोपयोगी है, यह विवादित है। अतः इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर, उस काल में व्याप्त निरर्थक धार्मिक उपक्रमों पर श्री कबीर ने प्रहार किया है। जैसे 'पाथर पूजे जो हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार' अथवा कंकर पाथर जोर कर मस्जिद लिया बनाय। तापर चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

एक पूर्ण योगी जब समाज की अवस्था का अवलोकन करते हुए उसके उद्धार हेतु, सुधार हेतु सचेष्ट होता है, तब उसे भौतिक तल पर नाना बाधाओं से गुजरना होता है। रूढ़ियों को तोड़ने में समाज के पाखण्डियों के विविध उत्पातों को सहना पड़ता है। श्री कबीर समर्थ योगी एवं सद्गुरु थे अतः उन्होंने वर–श्राप अथवा दण्डात्मक उपाय न अपना कर अपने उपदेशामृत से समाज को सचेत करते हुए अपने अनुगत हुए शिष्यों को सच्चे अध्यात्म जगत का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। एक जगह उन्होंने कहा है–

सद्गुरु के चरन में, मन को दे ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहि जाय।।

कभी प्राइमरी कक्षाओं में पढ़ाया गया था कि–

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।।

महानुभाव मनोयोग से मेरा कथन सुनते हुए बोले– सीस (अहंकार) का त्याग बिना सद्गुरु शरणागत शिष्य कैसे होगा? काया सम्बन्धी रोग, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि ही विष वृक्ष हैं। शिष्य ज्यों–ज्यों अहंकार त्याग कर सद्गुरु शरणागत होता है उसे अपने स्व में ही सद्गुरु रूपी अमृत द्वारा सम्पूर्ण विषय गत विष का समन प्राप्त हो जाता है। घट में अंधकार की जगह आध्यात्मिक ज्योति का दर्शन सद्गुरु कृपा से ही सम्भव है। अरे भाई! साक्षात् परमेश्वर ही सद्गुरु रूप नर देह में जीवोद्धार का कार्य करने को आते हैं। भला घट को चाँदना कौन प्रदान कर सकता है।अत: शिष्य यदि सचुमुच अध्यात्म जिज्ञासु है तो उसे यह समझना होगा कि सच्चे गुरु द्रव्य प्रेमी नहीं दिव्यता से प्रेम करते हैं।

गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हरष शेष व्यापे नहीं, तब गुरु आपे आप।।
जा गुरु ते भ्रम न मिटे, भ्रांति न जीव का जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लगाय।।

मैंने कहा– परंतु शिष्य को भी तो निर्मल तथा पूर्ण अध्यात्म जिज्ञासु होना चाहिए। अन्यथा इधर–उधर भटकता फिरेगा। कबीरदास का कोई भाव पूर्ण निर्गुण यदि याद हो तो सुनाने की कृपा करें। बोले याद तो है परंतु अब शायद कामख्या स्टेशन आने को है। अत: इतना ही यथेष्ट होगा कि हम सभी अपने सद्गुरु की पद्धति पकड़े रहने की चेष्टा करें। नियमानुवर्तिता से, स्वाध्याय एक निश्चित समय पर करते हुए बढ़ाते जायें तथा सदैव हर प्रकार से सद्गुरु आश्रय ग्रहण कर परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हों।

तभी एक विशल एवं लम्बे पुल पर से गाड़ी धड़धड़ाती घोर रव करती ब्रह्म नद (ब्रह्मपुत्र) को पार करने लगी। वार्ता विराम।

▣▣▣

निष्काम कर्म

अनूपराय, आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)

कुरुक्षेत्र में अर्जुन को अपने ही बन्धु बान्धवों की सेना देख कर विषाद उत्पन्न होता है और उनके मन के किसी गहरे कोने में यह आशंका दृढ़मूल हो गयी कि संभवतः वह युद्ध जीत नहीं पायेगा। उसका यही भय वैराग्य का रूप लेकर बाहर आता है। श्रीकृष्ण भगवान महान मनोवैज्ञानिक हैं। वे अर्जुन की इस मनःस्थिति को पहचान लेते हैं। श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को सिद्धि प्राप्ति के दो मार्गों का निर्देश देते हैं, 1. ज्ञान योग 2. कर्म योग। ज्ञान निष्ठा में तपस्या, स्वाध्याय, चिन्तन मनन आदि मानसिक कर्मों का प्राधान्य होता है, वहाँ शारीरिक कर्म गौण होते हैं जबकि कर्म निष्ठा में दैहिक कर्मों की प्रधानता होती है। जैसा नीचे के श्लोक से स्पष्ट है:-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।

(3-4)

अर्थात् केवल कर्म का आरम्भ न करने से मनुष्य नैष्कर्म्य की अवस्था को नहीं पा लेता, न ही कर्म का त्याग कर देने मात्र से सिद्धि को पाता है।

ऊपर के श्लोक में दो महत्वपूर्ण शब्द 1. नैष्कर्म्य 2. सिद्धि आये हैं। नैष्कर्म्य और सिद्धि, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों में समान हैं। केवल उनके रूप में तनिक सा अन्तर होता है, स्वरूप में नहीं। जिस प्रकार ज्ञान के रास्ते जाने वाला व्यक्ति 'नैष्कर्म्य और सिद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्म के रास्ते जाने वाला व्यक्ति भी।

ज्ञानी का नैष्कर्म्य, वह है जहाँ ज्ञान की प्रखरता के कारण संसार की सार्थकता समाप्त हो जाती है और कर्म की प्रेरणा का सारा उत्स ही सूख जाता है। ज्ञानी अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करता है और समझता है कि उसके लिए अब कोई कर्म शेष नहीं रहा। कर्मयोगी का 'नैष्कर्म्य, वह है, जहाँ वह तीव्र से तीव्र कर्म करता है पर कर्म से अलिप्त रहता है। कर्म तब तक कर्म रहता है जब तक उसके साथ कर्त्ता रहता है। पर यदि कर्म से कर्त्ता निकल जाय तो कर्म अकर्म हो जाता है, नैष्कर्म्य हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानी और योगी दोनों को 'नैष्कर्म्य, और सिद्धि की प्राप्ति होगी, पर कब? जब वे कर्म को प्रारम्भ करेंगे और बीच में ही कर्म को नहीं छोड़ देंगे, तब। अतएव दोनों के लिए कर्म करना अनिवार्य है। पर यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कर्म के पीछे किसी प्रकार की कामना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कामना युक्त कर्म में बन्धन है, वह कर्त्ता को बाँध लेता है।

ज्ञानी और योगी इन दोनों का निष्काम कर्मयोग का तरीका अलग-अलग होता है। दोनों ही फल की कामना नहीं रखते। ज्ञानी अपने कर्त्तापन को ज्ञानयोग के अभ्यास के द्वारा दूर करने की चेष्टा करता है, वह मानता है कि 'गुणु गुणेशु वर्तन्ते, -त्रिगुणं ही त्रिगुण में बरत रहे हैं। जब वह शरीर से कोई कर्म करता है, तो वह सोचता है कि गुल गुलों में खेल रहे हैं। इस प्रकार वह कर्त्तापन की बुद्धि से ऊपर उठने की कोशिश करता है। योगी अपने कर्त्तापन को ईश्वर के चरणों पर सौंपता है। दोनों को नैष्कर्म्य की जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमें मात्र रूपगत अन्तर होता है। ज्ञानी के जीवन में कर्म का अभाव दिखता है जबकि योगी के जीवन में कर्म का प्राबल्य। पर दोनों में ही कर्त्तापन और कामना का अभाव होता है, यह दोनों में नें स्वरूपगत समानता है।

▣▣▣

'बनना ही बनाना है'

उर्दू-फारसी के युवा कवि नारायणप्रसाद जी मुरादाबाद के अँग्रेज कलेक्टर के पेशकार थे। धीरे-धीरे उनकी रुचि सरकारी नौकरी से हटकर वैदिक धर्म के प्रचार करने की हो गयी। जब इस बात की चर्चा उन्होंने अपने एक मित्र से की तो मित्र ने सलाह दी- यदि आप किसी सिविल सर्जन से कार्य करने के अयोग्य हो जाने का डॉक्टरी प्रमाण पत्र प्राप्त कर लें, तो आपको आजीवन पेंशन मिलती रहेगी।

'झूठा प्रमाणपत्र बनवाकर पेंशन लेना, अधर्म-अनीति का कार्य है। ऐसा व्यक्ति धर्म का उपदेश देने का अधिकारी नहीं रहता।' नारायणजी ने गम्भीर शब्दों में कहा- 'मित्र, मैं धर्मोपदेशक अथवा समाज को सही रास्ते पर ले जाने वाला उपदेशक बनना चाहता हूँ। उपदेशक जैसा दूसरों को बनाना चाहता है, उसे वैसा स्वयं बनना पड़ता है। बनना ही बनाना है। बनकर ही बनाया जाता है। समाजसुधारक की कथनी और करनी एक होनी चाहिए। जब तक कथनी और करनी एक नहीं होती, उपदेश व्यर्थ जाता है।'

सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर वे धर्मोपदेश के कार्य में लग गये। आगे चलकर वे महात्मा नारायणस्वामी के नाम से विख्यात हुए।

आदरणीय त्रय गुरुभाईयों को सीख

केशवदेव उपाध्याय, वाराणसी

हमारे आराध्यदेव योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज तथा अनादि सिद्ध परम योग–योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज प्रत्येक क्षण अपने शिष्यों के साथ (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष) रूप से रहकर उनके क्रिया कलापों को देखा करते हैं एवं आवश्यकतानुसार उनका मार्ग दर्शन करते हैं तथा सहायता करके उनके कार्य में सफलता प्रदान किया करते हैं। हमारे आदरणीय अनेकानेक गुरुभाई–बहनों ने अपना अनुभव, हमें बतलाने की कृपा की है, जिसको नवागन्तुक साधक समुदाय के **आध्यात्मिक** उत्थान को मनोगत करके लिखने का प्रयास किया जा रहा है। श्री प्रभु जी के युगल चरणों में साष्टांग प्रणाम के साथ यही प्रार्थना है कि इसकी श्रद्धा, शक्ति, समर्पण एवं सामर्थ्य देने की कृपा की जाय।

जैसा कि श्री सिद्ध गुफा सवाँई धाम से सम्बन्धित हमारे सभी गुरुभाई–बहन इस तथ्य से खूब अच्छी प्रकार अवगत हैं कि हमारे गुरुदेव भगवान, अपने श्री गुरुदेव भगवान का अवतारोत्सव चैत्र सुदी सप्तमी, अष्टमी और नौमी को महान उत्साह, उल्लास एवं अत्यधिक प्रसन्नता के साथ मनाते थे। (यद्यपि आराध्यदेव श्री गुरुदेव भगवान के भावों को प्रगट करने के लिए, उपरोक्त शब्दों का प्रयोग करना मेरी महान मूर्खता है, क्योंकि उनके भावों को समझ पाना, बड़े–बड़े सिद्धों एवं योगीजनों के लिए असम्भव है, तो मेरी क्या हैसियत कि उसे समझ सकूँ। अतः विज्ञ पाठकों से, इसे अन्यथा न लेते हुए यह निवेदन करना है कि हालात को स्पष्ट करने के लिए उपरोक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है) संक्षेप में आराध्यदेव जी महाराज महाप्रभु श्री रामलाल जी का अवतारोत्सव अत्यधिक धूम–धाम से मनाया करते थे। वे अनाथनाथ अपने शिष्यों को स्वयं अपना पैसा देकर प्रसाद, माला, खिलौना एवं अन्य सामग्रियों का स्टाल लगवाते थे कि उनके श्रद्धालुओं को किसी आवश्यक सामान के लिए अन्यत्र न जाना पड़े। स्टाल लगाने वाले अपने प्रिय शिष्यों को श्री गुरुदेव भगवान यह आदेश देते थे कि लल्ला! खूब बढ़िया स्टाल लगाओ। पूँजी हमारी, मेहनत तुम्हारी एवं लाभ श्री प्रभुजी के लिए होगा। आराध्यदेव की आज्ञा का पालन हमारे आदरणीय गुरुभाई पूरी लगन एवं श्रद्धा के साथ पालन करते थे। दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी के अवतारोत्सव को आराध्यदेव योग महामेला के नाम से सम्बोधित किया करते थे। इसी प्रकार के एक योग महामेला में हमारे तीन आदरणीय गुरुभाईयों ने फूल माला का स्टाल लगाया। हमारे इन भाईयों ने गुलाब की सात सौ मालाओं के लिए करीब दस हजार में सौदा तय कर लिया एवं उसे करीब दो हजार पाँच सौ रुपया एडवान्स भी दे दिया। शर्त यह रखी कि गुलाब की माले वाली गजरा नौमी के दिन प्रातः नौ बजे तक अवश्य ही पहुँच जानी चाहिए। उस माली (फूल

विक्रेता) ने यह शर्त स्वीकार कर ली। नौमी के दिन हमारे ये तीनों भाई अपना स्टाल प्रातः आठ बजे ही लगाकर माला आने का इन्तजार करने लगे। आराध्यदेव जी ने श्री महाप्रभु जी के अवतारोत्सव की आरती प्रातः नौ बजे किया एवं उसके बाद श्री सिद्धगुफा के बाहर आकर अपने आसन पर विराजमान हो गये। सर्व प्रथम हमारे आदरणीय ब्रह्मचारी गणों ने श्री गुरुदेव भगवान का आरती एवं पूजन किया। उसके बाद लाइन में होकर हमारे गुरुभाई एवं बहनों ने श्री गुरुदेव भगवान का आरती पूजन करना आरम्भ किया। उधर हमारे गुरुभाई एवं बहन आरती पूजन कर रहे थे एवं इधर स्टाल लगाये हमारे तीनों भाई गुलाब की माला आने का इन्तजार बेसब्री से कर रहे थे।

अपराह्न करीब दो बजे का समय हो गया परंतु गुलाब की माला नहीं आयी। आरती पूजा करने वाले भाई–बहनों की संख्या भी अब धीरे–धीरे कम हो रही थी। हमारे ये तीनों श्रद्धालु भाई सोच रहे थे कि अब माला लेकर माली आ ही गया, तो उसकी बिक्री होना असम्भव सा ही है। हमारे श्री गुरुदेव भगवान का कितना नुकसान होगा एवं इसके जिम्मेदार तो अब हमीं लोग हैं। इसी सोच में हमारे ये भाई बन्धु चिन्तित थे कि क्या किया जाय। इन लोगों का मन इतना व्याकुल एवं बैचेन था कि अब श्री गुरुदेव भगवान से क्या कहा जायेगा कि पूरी पूँजी ही डूब गयी। इन भाईयों ने आर्तभाव से दादा गुरुदेव का स्मरण करना आरम्भ किया ही था कि उसी समय माली गुलाब की माला लेकर आ गया। इन लोगों ने उसे अच्छी प्रकार से डांटा एवं उससे कहा कि तुम हमारे एडवान्स रुपये हमें दे दो एवं अपनी गुलाब की माला लेकर वापस जाओ। उन लोगों ने माली से कहा कि सायंकाल के चार बज रहे हैं एवं पूजा का कार्य भी समापन की तरफ है, अब हम तुम्हारी माला लेकर ही क्या करेंगे। बेचारा व्यापारी ने समय से माला न पहुँचा पाने के कई कारण बताये परंतु इन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। अन्त में उसने यह कहकर कि जितनी माला बिक जायेंगी, उतने का ही पैसा आप ले लेना, एवं यदि एडवान्स उससे पूरा नहीं होगा, तब शेष बचे पैसे मैं आपको वापस कर दूंगा; इतना कहकर माली श्री सिद्धगुफा को प्रणाम कर चला गया। हमारे आदरणीय तीनों भाईयों ने सोचा कि अब एक–एक माला लेकर हम तीनों श्री गुफा में चलें एवं वहाँ, दादा गुरुदेव महाप्रभु जी को अर्पित करके उन्हीं से प्रार्थना किया जाये। तीनों गुरुभाईयों ने वैसा ही किया। श्री महाप्रभु जी को माल्यार्पण करने के बाद, तीनों हमारे भाई उनके सामने खड़े होकर एक साथ प्रार्थना किये, कि दादाजी हमने तो कार्य लाभ के लिए किया था, परंतु अब हानि हो रही है। पूँजी श्री गुरुदेव की लगी है, यदि पूँजी डूब गयी, तो आप तो जानते ही हैं कि हमारे श्री गुरुदेव 'हरियाणा' के रहने वाले हैं, अपनी छड़ी से मार–मार कर हम लोगों की हुलिया बिगाड़ देंगे। अतः आपसे यही प्रार्थना है कि ऐसी कृपा की जाय कि इसमें घाटा (हानि) न होने पाये। इतना कहकर हमारे भाई आये एवं स्टाल पर गुलाब की माला अच्छी प्रकार सजा कर लगा दिये।

आश्चर्य, महान आश्चर्य! सायंकाल के साढ़े छः बजे तक सभी मालायें, बिक चुकी थीं एवं मालाओं से झड़े हुए कुछ गुलाब की पत्तियाँ थीं, उसको भी भाई लोग बिक्री कर चुके थे। इस धन्धे में लाभ कुछ कम मिला। एक समय था, जब पूरी पूँजी डूब रही थी एवं मात्र लगभग दो घन्टे के अन्दर लाभ की स्थिति बना दी, महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की कृपा ने। जैसा कि सभी गुरुभाई-बहन जानते हैं कि अनादि योगेश्वर महाप्रभु जी के अवतारोत्सव के योग महामेला में, हमारे श्री गुरुदेव भगवान बहुत ही व्यस्त रहा करते थे, अतः इस योग महामेला की समाप्ति के दो-तीन दिन बाद ही आय-व्यय का हिसाब किया करते थे। तीसरे दिन हमारे ये तीनों आदरणीय गुरुभाई एकान्त समय जानकर अपराह्न अपने व्यापार का लेखा-जोखा देने श्री गुरुभवन में प्रवेश किये, जहाँ त्रिजग पावन त्रिलोकीनाथ, हमारे गुरुदेव भगवान विराजमान थे। तीनों भाईयों ने श्री चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित किया। श्री गुरुदेव भगवान ने आशीर्वाद देने के बाद, तत्काल ही प्रश्न किया, 'क्यों, श्री प्रभु जी से कर दी हमारी शिकायत? बतलाओ, मारने की बात तो बहुत दूर की है, मैंने तुम लोगों को कितनी बार डांटा है? तुम लोग सत्य-सत्य बतलाओ की मैंने तुम लोगों को कितनी बार ताड़नात्मक शब्द कहे हैं? बोलो, बोलते क्यों नहीं, चुप क्यों हो?

उन लोगों ने हाथ जोड़कर प्रार्थना किया कि गुरुदेव आपने, न तो हम लोगों को कभी मारा है और न कभी ताड़नात्मक शब्द कहे हैं। हम लोगों ने यह अपराध किया है कि महाप्रभु जी से आप की शिकायत की है। कृपया हम लोगों के अपराध को क्षमा करने की कृपा की जाय। भविष्य में अब हम ऐसा अपराध एवं गलती नहीं करेंगे। अपने प्रिय शिष्यों की विनय पूर्वक की गयी इस प्रार्थना को सुनकर, आराध्यदेव जी ने अपनी मधुर मुस्कान के साथ कहा, 'अच्छा लल्ला कोई बात नहीं! अब भविष्य में इस प्रकार की कोई बात न हो, ऐसा ही प्रयत्न करना।' इसके बाद अनाथनाथ श्री गुरुदेव भगवान ने कहा कि अब तुम लोग हिसाब बताओ। भाई लोगों ने अपना लाभ-हानि का विवरण श्री गुरुदेव भगवान के कर-कमलों में समर्पित किया। श्री मुख ने कहा कि लल्ला, तुम लोग अनावश्यक परेशान हो रहे थे, यदि नुकसान ही हो जाता, तो कौन सी बड़ी बात थी। बिजनेस में तो लाभ-हानि होता ही रहता है। पुनः मुस्कराते हुए बोले कि इसमें तो तुम लोगों ने लाभ कमाया है। तदन्तर हमारे तीनों भाईयों को प्रसाद एवं आशीर्वाद देकर विदा किया। ये रही गुरुदेव के सर्वज्ञ होने की प्रथम कृपा चर्चा।

इस कृपा प्रसंग को लिखते समय एक और सर्वज्ञता की कृपा याद आ गयी, जिसे यहाँ लिखना समीचीन होगा। कथानक महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के अवतारोत्सव योग महामेला के श्री सवाँई धाम से ही सम्बन्धित है। हमारे एक आदरणीय गुरुभाई के आग्रह पर अनाथनाथ श्री गुरुदेव भगवान ने उन्हें खिलौनों का स्टाल लगाने की आज्ञा दी एवं उन्हें इसके लिए आवश्यक धन भी अपने पास से दिया। हमारे इस भाई नेआगरा एवं फिरोजाबाद से मिट्टी, लकड़ी एवं प्लास्टिक के बने हुए खिलौनों का स्टाल योग महामेला की तिथियों पर

श्री सिद्ध गुफा सवाँई आश्रम के मेले में लगाया। बड़ी ही श्रद्धा एवं लगन से दुकान का स्टाल लगाकर सामान (बच्चों के खिलौने एवं अन्य उपयोगी वस्तुयें) मेले में विक्रय करना आरम्भ किया। सामान की खूब बिक्री हुई एवं योग महामेला की समाप्ति तक मात्र कुछ खिलौने बचे थे।

बचे हुए खिलौनों में दो मोर भी थे, जो, स्टाल लगाने वाले हमारे भाई जी को अत्यधिक पसन्द आ रहे थे। योग महामेला की समाप्ति के तीसरे दिन हमारे भाई जी, आराध्यदेव जी को अपने व्यापार का हिसाब देने श्री गुरुभवन में प्रवेश किये। आराध्यदेव, श्री गुरुभवन की चारपाई पर, अपने बाँये हाथ के सहारे से आधे लेटे हुए थे। श्री भाई जी ने श्री चरणों में प्रणाम निवेदित किया एवं श्री गुरुदेव भगवान ने उन्हें, आशीर्वाद देने के बाद प्रश्न किया कि कहो लल्ला! क्या कहना चाहते हो?

आदरणीय भाई जी ने, एक टोकरी; जिसमें बचे हुए खिलौने थे, आराध्यदेव के सामने रखते हुए निवेदन किया कि प्रभु जी! जितने खिलौने हम बेचने के लिए लाये थे, उसमें से इतने खिलौने बच गये है। यह टोकरी श्री गुरुदेव के सामने लाने से पूर्व भाई जी ने अपनी पसन्द वाले दोनों मोर निकाल कर अपने पास रख लिया था। शेष सभी मोर जो बेचने के लिए आये थे, बिक चुके थे। इस समय टोकरी में कोई मोर नहीं था। हमारे श्री गुरुदेव भगवान ने टोकरी में रखे खिलौनों को अपने कर–कमलों से एक–दो बार इधर–उधर किया एवं फिर अपनी मनोहारी मुस्कान के साथ कहा, 'लल्ला! एक भी मोर नहीं बचा है?' आराध्यदेव की वाणी सुनकर हमारे भाई जी क्षण भर के लिए किं कर्त्तव्यविमूढ़ हो गये एवं अपनी गलती को स्वीकारते हुए, यह प्रार्थना किये कि प्रभुजी! दो मोर बचे हैं, अभी लाता हूँ। इतना निवेदन कर, वे दौड़ते हुए गये एवं अपने पास रखे दोनों मोर, टोकरी में रखते हुए निवेदन किये कि प्रभु जी ! ये मोर हमें बहुत पसन्द थे, अतः चोरी से अपने पास रख लिया था, मेरा अपराध क्षमा करने की कृपा की जाय। उनकी प्रार्थना को सुनने के बाद आराध्यदेव जी ने कहा कि अब मैं आज्ञा देता हूँ, यह मोर तुम ले जाओ एवं अपने पास ही रखना। उन्होंने कहा कि आराध्यदेव जी महाराज मुझसे अपराध हुआ है, कृपया हमें क्षमा करने की कृपा की जाय।

आराध्यदेव जी ने अपनी आशीर्वादात्मक वाणी में अपने मुखारविन्द से कहा कि लल्ला! तुम्हें, अब यह बात अपने मन से निकाल देनी चाहिए कि तुमने गलती किया है। तुम्हारी सत्यवादिता से मेरा मन प्रसन्न है। अतः तुम काफी थक चुके हो, जाकर अब आराम करो। आराध्यदेव जी की यह आज्ञा मानकर भाई जी अपने आश्रम स्थित आवास पर गये एवं इस घटना का स्मरण करते रहे कि यह कार्य हमसे गलत हो गया।

उपरोक्त बातों से आराध्यदेव की अन्तर्यामिता स्पष्ट उजागर होती है। योगेश्वर द्वय की अहैतुकी कृपा हम सभी पर सदैव बनी रहे, बारम्बार इसी प्रार्थना के साथ, लेख यहीं विश्रामित है।

प्रज्ञा का स्वरूप व कार्य : काण्ट एवं योग दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

रमेश सिंह, प्राचार्य, इन्दिरा गाँधी गर्ल्स डिग्री कॉलेज, रामपुर, तारामण्डल

दर्शन एक बहुआयामी चिन्तन विधा है जिसमें जीवन व जगत का विहंगम चित्र प्रस्तुत किया जाता है। दर्शन के इन विविध आयामों में ज्ञान मीमांसा अपना एक अलग महत्व रखती है। ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत हम यह देखते है कि ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है? ज्ञान की सीमा क्या है? और ज्ञान की कसौटी क्या है? उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर ज्ञान मीमांसा में खोजा जाता है। यह विषय विशद विवेचन की अपेक्षा रखता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमें यह विचार करना है कि काण्ट के दर्शन में प्रज्ञा (Reason) का क्या स्वरूप व भूमिका है तथा भारतीय चिन्तन परम्परा में योग दर्शन में इसे किस रूप में लिया गया है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि विषय की सम्पूर्ण प्रस्तुति ज्ञान–मीमांसीय दृष्टि से की जायेगी।

काण्ट के दर्शन में प्रज्ञा को दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। प्रथम व्यापक अर्थ में प्रज्ञा के तीन फलक प्राप्त होते हैं – प्रज्ञा, बुद्धि (Understanding) व इन्द्रिय संवदेन (Sensibility)। द्वितीय, संकुचित दृष्टि से विचार करें तो प्रज्ञा सिर्फ नियामक (Regulative) है वह बुद्धि को नियन्त्रित करती है। उसका सम्बन्ध सिर्फ बुद्धि से होता है। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय संवेदन व बुद्धि दोनों का होना आवश्यक है। इन्द्रिय संवेदन से हमें ज्ञान की सामग्री प्राप्त होती है जो बुद्धि के साँचों में ढलकर ज्ञान के रूप में प्राप्त होती है। काण्ट के दर्शन में बुद्धि व प्रज्ञा में महत्वपूर्ण भेद दिखलाई देता है। बुद्धि अपने विकल्पों द्वारा इन्द्रिय संवेदनों का समाहार करके उनको ज्ञान का रूप देती है। व्यावहारिक ज्ञान में जो अनिवार्यता व सार्वभौम निश्चय आता है वह बुद्धि के द्वारा ही आता है। बुद्धि का कार्य इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सामग्री को ज्ञान के रूप में परिणत करना है। बुद्धि के अनुमान का आधार प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि जिन वस्तुओं का ज्ञान करती है, उनके मूलरूप वस्तु जगत में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। वस्तु जगत पर बुद्धि के नियम लागू होते हैं। बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है। (Understanding makes nature) यह काण्ट का प्रसिद्ध कथन है। बुद्धि के नियम उपादान रूप हैं। प्रज्ञा का स्थान बुद्धि के ऊपर है। बुद्धि इन्द्रिय संवेदनों को नियमित करती है तथा उन्हें अनुभव का स्वरूप देती है। प्रज्ञा बुद्धि के विभिन्न अनुभवों का समन्वय करके उन्हें नियमित करती है। प्रज्ञा का इन्द्रिय संवेदनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञा का सम्बन्ध बुद्धि से होता है। उसका रिक्षेत्र बुद्धि तक ही सीमित है। इस प्रकार प्रज्ञा के अनुमान परोक्ष होते हैं यहाँ यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि बुद्धि के अनुमानों के समान प्रज्ञा के अनुमान प्रत्यक्ष मूलक नहीं

है। प्रज्ञा उन नियमों का नियमन करती है जिन नियमों के आधार पर बुद्धि संवेदनों का समन्वय करती है। प्रज्ञा के नियम यथार्थ जगत पर लागू नहीं होते क्योंकि प्रज्ञा का इन्द्रिय संवेदनों से कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि उसका सम्वादी मूलरूप वस्तु जगत में नहीं होता।

अतीन्द्रिय तत्वों का ज्ञान हमें बुद्धि के द्वारा नहीं होता। उसका ज्ञान हमें प्रज्ञा के द्वारा होता है। प्रज्ञा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ या सत्य नहीं होता। प्रज्ञा द्वारा ज्ञान तत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष मूलक अनुमान से नहीं हो सकती क्योंकि इन तत्वों का कोई इन्द्रिय संवेदन नहीं होता। इस प्रकार इन्द्रिय संवेदन व बुद्धि विकल्पों के अभाव में प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्वों को सत्य व निश्चित नहीं कह सकते। ये संभावना मात्र है। ये हमारी प्रज्ञा की कल्पना मात्र है। इन तत्वों को बुद्धि से सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि न तो ये इन्द्रिय गोचर हैं तथा न ही बुद्धिगम्य है। बुद्धिगम्य न होने से बुद्धि की कोटियाँ इन पर लागू नहीं होती। यदि प्रज्ञा बुद्धि को बलपूर्वक कोटियों को इन तत्वों पर भेजने के लिए बाध्य करती है तो ये बुद्धि की कोटियाँ इन तत्वों से टकरा कर वापस चली आती है। इसके परिणामस्वरूप द्वन्द्वों का सृजन होता है। प्रज्ञा द्वारा इनके विषय में परस्पर विरोधी कथन की अवधारणा की जाती है। किंतु इसमें कोई स्थापना नहीं हो पाती क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी कथन यथा पक्ष व विपक्ष आपस में समान रूप से बलशाली हैं। इस प्रकार काण्ट के दर्शन में ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय संवेदनों में होती है जो देश–काल के गवाक्षों से बुद्धि विकल्पों तक जाता है तथा जिसका समापन प्रज्ञा में होता है। काण्ट बहुत स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व मनुष्य की कल्पना मात्र है। इसके आधार पर सत्य व नियमित ज्ञान के रूप में तत्व–मीमांसा की स्थापना कभी नहीं हो सकती।

योग दर्शन में प्रज्ञा को ऋतम्भरा कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के समाधिपाद के 48वें सूत्र में कहा है कि 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'। अध्यात्म प्रसाद के लाभ होने पर जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। यहाँ प्रज्ञा का अभिप्राय समाधि जन्य बुद्धि से है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से अभिप्राय सत्य को धारण करने वाली अविद्या रहित बुद्धि से है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठेगा कि अध्यात्म प्रसाद क्या है? निर्विचार समाधि से अध्यात्म प्रसाद का लाभ होता है। निर्विचार समाधि की पराकाष्ठा में जब योगी का चित्त समाहित हो जाता है तो प्रज्ञा का उदय होता है। समाहित चित्त योगी की प्रज्ञा को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। यह प्रज्ञा तत्व को धारण करने वाली होती है इसमें भ्रान्ति एवं विपर्यय ज्ञान आदि का समावेश नहीं होता। इस प्रज्ञा के उदय होने से उत्तम योग का लाभ होता है। यहाँ सत्य व ऋत के भेद को समझ लेना समीचीन होगा। आगम व अनुमान द्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। वह सत्य है और साक्षात् करने के पश्चात् जो यर्थाथ ज्ञान प्राप्त होता है वह ऋत है। इस प्रकार ऋत का अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है। अगले सूत्र 49वें में महर्षि पतञ्जलि आगम अनुमान जन्य ज्ञान

से ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।। (49)

आगम व अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है, विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार करने के सम्बन्ध से। प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं एक सामान्य व दूसरा विशेष। सामान्य वह है जो एक प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है। विशेष वह है जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना–अपना रूप है जिससे एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एक दूसरे से भेद हो सकता है। आगम जन्य ज्ञान वस्तु के सामान्य रूप को ही व्यक्त करता है, विशेष रूप को नहीं। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु के विशेष रूप को दिखलाने में समर्थ होता है। किंतु इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान भी स्थूल विषयों के ही प्रत्यक्ष रूप को दिखला सकता है, न तो सूक्ष्म व अतिन्द्रिय पदार्थों को। पञ्चतन्मात्रायें, अहंकार, महत तत्व, प्रकृति, पुरुष आदि पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी गति नहीं है। आगम व अनुमान इनके सामान्य रूप का पता करा सकते हैं, इनके विशेष रूप का पता नहीं बता सकते। निर्विचार समाधि की पराकाष्ठा वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो सकता है। यह प्रज्ञा विशेष विषयक होने से श्रुत अनुमान से भिन्न व उत्कृष्ट है। यहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा को विवेक ख्याति के तुल्य समझना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा का साधक के जीवन में क्या लाभ होना है। इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं–

निर्माण चित्तान्यस्मितामातात्

अष्मिता मात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माण चिन्तानि करोति ततः सचित्तानिभवन्ति।

इसका अभिप्राय है कि इस समाधि में योगी अपना चित्त निर्माण करके हजारों जगह एक साथ जा सकता है। वह जितने चित्त बना देगा वह सभी उसके अधीन होंगे। इस प्रकार ऋतम्भरा प्रज्ञा से साधक के अन्दर असंख्य चित्त निर्माण करने की सामर्थ्य आ जाती है। वह अपने हजारों चित्त निर्माण करके उसे प्रधान चित्त के अधीन रखकर एक साथ हजारों कार्य कर सकता है। उसके अन्दर दिव्य निर्माण की शक्ति आ जाती है। साधक के अन्दर निर्वाणोन्मुखी वृत्ति उत्पन्न होती है जो सभी संस्कारों को जलाने के बाद अपने आप को भी जलाकर भस्म कर देती है। इस प्रकार योगी अपने परम लक्ष्य को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि काण्ट ने ज्ञान की जो अवधारणा विकसित किया तथा उसमें प्रज्ञा की जो भूमिका है, वह व्यावहारिक ज्ञान तक ही सीमित है। जब प्रज्ञा अतिन्द्रिय प्रश्नों को हल करने का प्रयास करती है तो विरोधाभास को जन्म देती है जो अलग विवेचन का विषय है। इस प्रकार से काण्ट का विवेचन सतही ज्ञान तक ही सीमित है। भारतीय समकालीन दर्शन में गहन ज्ञान मीमांसा का प्रयोग मिलता है। इसके सूत्र तो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के चार दार्शनिकों प्रो. पी.एस. बरेल, प्रो. आर.डी. रानाडे, प्रो. ए.

सी. मुखर्जी तथा प्रो. आर.एन. कौल की कुछ कृतियों में मिलता है, किन्तु 'गहन ज्ञान मीमांसा' शब्द के प्रयोग का श्रेय प्रो. संगम लाल पाण्डेय को है। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'प्राब्लेम ऑफ डेप्थ एपिस्टिमोलाजी' में गहन ज्ञान मीमांसा की विशद चर्चा है। सामान्य रूप से गहन ज्ञान मीमांसा में आत्मा की खोज को अन्त:प्रज्ञा या अन्तर्दृष्टि से सम्भव माना गया है। यहाँ अन्त:प्रज्ञा को Intuition कहा गया। गहन ज्ञान मीमांसा में आत्म ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया गया। आत्म ज्ञान अपरोक्षानुभूति से ही सम्भव है। काण्ट के दर्शन में इसका अभाव है। अत: काण्ट के आलोचना वाद को सतही ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत रखना समीचीन होगा। दूसरी तरफ योग पूरी तरह से क्रियात्मक व साधनापरक है। इसमें साधक अभ्यास से चित्त वृत्तियों का निरोध करके प्रज्ञा लाभ करता है। यह पूरी क्रिया अनुभव परक है। यह साधन करने पर ही संभव है। केवल बौद्धिक विकास से इस क्षेत्र में कोई भी लाभ सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि योग दर्शन में जो प्रज्ञा है वह हमें आत्म ज्ञान कराने वाली है, जो ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है और मानव जीवन का परम कर्त्तव्य है। इसी में मानव जीवन की धन्यता है, दिव्यता है।

▣ ▣ ▣

''सेवक कैसा होना चाहिए, इस पर विचार करने से लगता है कि सेवक के हृदय में एक मधुर-मधुर पीड़ा रहनी चाहिए और उत्साह रहना चाहिए तथा निर्भयता रहनी चाहिए एवं असफलता देखकर कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। सेवक से सेवा होती है, सेवा से कोई सेवक नहीं बना करता।''

श्री गीतामृत – पदावली

प्रेषक – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, गोरखपुर

(गतांक से आगे)

कहीं, पार्थ ! मैं बाध्य नहीं हूँ, करने को कुछ कर्म कभी।
प्राप्त मुझे है प्राप्य वस्तु सब, तो भी करता कर्म सभी।।22।।

सावधान होकर मैं, अर्जुन! नहीं करूँगा कर्म जभी।
मेरा अनुगामी बनने का, यत्न करेंगे लोग सभी।।23।।

कर्म नहीं करने से मेरे, इन लोकों का होगा नाश।
होऊँगा मैं संकर कर्ता मुझसे होगा जग का ह्रास।।24।।

यथा लीन होकर कर्मों को, करते जिन्हें न रहता ज्ञान।
अनासक्त ज्ञानी भी त्यों ही, कर्म करें जग का हित मान।।25।।

अज्ञानी आसक्त जनों को, ज्ञानी कभी न भरमायें।
योग–युक्त विद्वान पुरुष ये, कर्म सभी से करवाएँ।।26।।

सदा गुणों से प्रेरित होकर, कर्म सभी होते रहते।
मूढ़ तथा अभिमानी जन ही, 'मैं हूँ कर्ता' यह कहते।।27।।

गुणों कर्मों के तत्वों का, जो रखते हैं, हे अर्जुन ! ज्ञान।
'विषयों में इन्द्रियगण रहते', लिप्त न होते वे यह जान।।28।।

किन्तु गुणों से मुग्ध पुरुष तो, गुण–कर्मों में होते लीन।
ज्ञानी करें न उनको विचलित, वे हैं मूढ़ महा मतिहीन।।29।।

ध्यान मेरा धरके तुम मुझको अर्पित करदो कर्म सभी।
आशा, ममता, राग त्याग कर, युद्ध करो तुम वीर! अभी।।30।।

श्रद्धावाले मनुज सदा जो! चलते हैं मम मति–अनुसार।
दोष–बुद्धि से युक्त पुरुष वे, पाते कर्मों से निस्तार।।31।।

दोष–बुद्धि वाले अज्ञानी, चला न करते मम अनुकूल।
महामूढ़ तुम उनको जानो, होता उनका नाश समूल।।32।।

ज्ञानवान् भी चेष्टा करते, सदा प्रकृति के ही अनुसार।
सभी प्रकृति के अनुगामी हैं, अतः पार्थ! निग्रह बेकार।।33।।

विषयों के प्रति इन्द्रियगण को, होता द्वेष तथा अनुराग।
सबके पथ में ये कंटक हैं, करो सर्वथा इनका त्याग।।34।।

अपना धर्म विगुण हो तो भी, नहीं श्रेष्ठ पर–धर्म कभी।
मृत्यु भली निज धर्मों में, अन्य धर्म भयपूर्ण सभी।।35।।

अर्जुन उवाच

हे माधव! अब मुझे बता दो, कौन कराता नर से पाप।
नहीं चाहने पर भी उसमें क्यों खिंच जाता अपने आप।।36।।

श्री भगवानुवाच

ये हैं काम क्रोध हे अर्जुन! जनक रजोगुण इनका जान।
पापी हैं ये, नहीं अघाते, महाशत्रु तू इनको मान।।37।।

आग धुएँ से जैसे ढकती, धूलकणों से दर्पण म्लान।
ढकता गर्भ यथा झिल्ली से, काम–शत्रु से ढकता ज्ञान।।38।।

ज्ञानी का भी ज्ञान इन्हीं से, ढकता इनको वैरी जान।
नहीं अघाते पावक–सम ये, काम–रूप तू इनको मान।।39।।

इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन को ही, जानो इसका वास–स्थान।
इनके द्वारा मोहित करता, वह पुरुषों को ढककर ज्ञान।।40।।

इसीलिए तुम सबसे पहले, इन्द्रिय पर कर लो अधिकार।
ज्ञान तथा विज्ञान–विनाशक, उस पापी को डालो मार।।41।।

हैं बलवान इन्द्रियां अर्जुन, पर मन उनसे है बलवान।
मन से परे बुद्धि है लेकिन आत्मा सबसे बढ़कर जान।।42।।

(शेष अगले अंक में)

सद्गुरु कृपालीला

जगदीश राए बंसल 'अधम', नई दिल्ली

योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा सवाई धाम से सम्बन्धित एक आदरणीय गुरु भाई एवं समस्त परिवार अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक आराध्यदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के कृपा पात्र शिष्य हैं। ये परम आदरणीय भाई जी अपना नाम एवं अन्य सूचक संकेत गुप्त ही रखना चाहते हैं। योग योगेश्वर करूणा सागर गुरुदेव जी की भक्ति से ओतप्रोत इस लाडले परिवार के साथ अनेक गुरु कृपाएँ जुड़ी हुई हैं। अपने भाग्य विधाता गुरु देव जी महाराज जिस प्रकार स्थूल रुप से विराजमान रह कर अपने आत्मांश बच्चों पर कृपा लीलाएँ करते थे, वर्तमान में भी उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक कृपा लीलाएँ कर रहे हैं। इसी प्रकार का एक कृपा प्रसंग प्रस्तुत लेख में उल्लेखनीय है। दिनांक 28 फरवरी 2010 होली त्यौहार के शुभ अवसर पर सवाई धाम श्री सिद्ध गुफा पर पधारे गुरु भाईयों द्वारा गुरु महिमा पर वार्तालाप के मध्य इस गुरु भाई जी ने यह प्रसंग बतलाया। जो उन्हीं के शब्दों में लिखने का प्रयास किया जा रहा है। भाई जी ने बतलाया कि:-

गांव में हमारे निवास स्थान के निकट ही एक तान्त्रिक एवं ज्योतिषी जी निवास करते हैं। ये ज्योतिषी जी परम पूज्या माँ काली के अनन्य उपासक हैं। माँ काली से इनका साक्षात्कार होता रहता है। इस लिए अपने इष्ट माँ काली के बलबूते पर ही इनका मान-सम्मान, प्रतिष्ठा और तान्त्रिक व्यवसाय टिका हुआ है। जादू-टोने द्वारा किसी के अनिष्ट में ही तान्त्रिक महोदय की मुस्कराहट निहित रहती है। एक बार किसी बात को लेकर यह तान्त्रिक जी हमसे रुष्ट हो गए। अपितु हमारी कोई ढीठाई नहीं थी। परंतु श्रीमान् जी हमसे अमर्ष करने लगे।

जब परस्पर टकराते हैं मान सम्मान
तब सिर पर मंडराते हैं मौत के पैगाम
जो छोड़ जाते हैं जख्में गहरे निशान
यो तन्त्र-मन्त्र का मतवाला क्या जाने
हमें गुरु देव पर हैं कितने अरमान?

अन्ततः वही हुआ जिसकी हमें आशंका थी। एक प्रातः एक पड़ोस वाले भाई जी ने हमें सचेत किया कि रात्रि के सन्नाटे में आपकी छत पर एक मिट्टी के बर्तन में जलता दीपक हवा में चक्कर काट रहा था। यह विनाश का सूचक है......। एक बार एक अन्य पड़ोसी भाई जी ने शंका व्यक्त की कि रात को तुम्हारी छत पर अपशगुन जैसा देखा..........कुछ प्रबन्ध कर लो

अन्यथा ....। तात्पर्य यह है कि हम पर आफत का पहाड़ टूट पड़ा। मगर हमें तो इह लोक या परलोक के किसी भी संकट में अपने भाग्य विधाता आराध्य देव जी के चरण कमलों का ही सहारा है। सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी महाराज लिखते हैं कि:–

एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास,
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।।

त्रयलोक वन्दित देवाधिदेव परम करुणा निकेतन गुरुदेव श्री चन्द्र मोहन जी महाराज की कृपा से जब तान्त्रिक द्वारा किए गए जादू–टोने विफल रहे तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने आग बबूला होकर माँ काली की पूजा अर्चना के पश्चात् एक अचूक निशाना साधा। इससे पहले यह बता दूं कि हमारा परिवार स्वाभाविक रूप से ही काल चक्र, युग चक्र, और जग चक्र तीनों को एक साथ चलाने वाले शरणागत रक्षक परम योग योगेश्वर सद्गुरुदेव जी महाराज की छत्र–छाया में ही अपना जीवन यापन करता आ रहा है। सर्व समर्थ्य जी एक बात बार–बार कहा करते थे कि जहाँ इष्ट होता है, वहाँ अनिष्ट नहीं होता। एक आदरणीय गुरुभाई ने एक भजन लिखा है जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:–

मेरे प्रभू जी संवाई वाले, सब का दु:ख हरते हैं।
सिद्ध गुफा है धाम मगर, सबके दिलों में रहते हैं।
बच्चे किस हालत में हैं, ये देखते रहते हैं।
बच्चों के भावों को वे, पूरा करते रहते हैं।।

अब तान्त्रिक का अचूक निशाना देखिए कि एक सायं जब मैं लघुशंका के निमित्त अपने कमरे से बाहर निकला तो बरामदे में एक लपलपाता सर्प फन फैलाए बैठा था। यह सर्प आदमी के अँगूठे से मोटा और लगभग एक सवा फुट लम्बा रहा होगा। विलक्षण बात तो यह थी कि इस सर्प को मूंछे थीं। और मुझे सर्प के मुख पर आदमी के मुख जैसी छवि नजर आ रही थी। सर्प को देखते ही मैंने आव देखा न ताव, पास ही कपड़े धोने से शेष बचा पानी रखा था। पानी लेकर सर्प पर दे मारा। पानी लगते ही सर्प उपर को उछला, फूंकार लगाते हुए कुछ मेरी तरफ बढ़ कर फर्श पर गिर गया। मैं भी कुछ पीछे को हट गया। मैंने पुन: वही पानी लिया और उसी तरह सर्प पर फेंक दिया। सर्प पहले की ही भांति फूँकार के साथ उपर उछला और मेरी तरफ बढ़ कर फर्श पर गिर गया। मैं भी उसी अनुमान से पीछे हो गया। अब तीसरी बार मैंने शुद्ध पानी लिया और श्री सद्गुरु देव जी के नाम के साथ सर्प पर दे मारा।

''आ गई लहर शिवा के मन में''

अब की बार सर्प बाहर की ओर भाग गया।

गुरु देव जय जय सद्गुरु जय जय।
अखण्ड ज्योति प्रभू राम लाल जय जय।।

उधर तान्त्रिक महोदय अपनी सफलता की आशा से इस प्रकार इत्ला रहा था कि:-

अब हंस तेरा उड़ जायेगा।
खाली पिंजरा पड़ा रह जाएगा।।
तेरे घर मातम छा जाएगा।
सिक्का मेरा यहाँ जम जाएगा।।
सर्प दंश कर जब आएगा।
खुशी से दिल मेरा भर जाएगा।।

सर्प के बाहर भाग जाने के पश्चात् हमने राहत की साँस ली। मगर तान्त्रिक जी अपने अचूक प्रयास को विफल देख कर अपना सन्तुलन खो बैठा। उसके क्रोध का पारावार न रहा। अतः उसने तुरन्त माँ काली जी का आह्वान किया। जब माँ काली प्रकट हुई तो उसने अपना रोना रोया। प्रत्युत्तर में पूज्य माँ काली ने तान्त्रिक को दो टूक यही कहा कि 'बेटा, तू इससे वैर छोड़ दे, और मित्रता कर ले। अन्यथा इसके गुरु महाराज इतने सक्षम हैं कि मेरी पेश नहीं चलने की। और यह बच्चा पहले मेरा भक्त भी था। इसी में तेरा भला है।'

इस प्रकार भाग्य विधाता, सर्व समर्थ अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक त्रिगुण माया पति, आराध्यदेव गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने समस्त परिवार को काल के गाल से बचा कर जीवन दान दिया और निर्भय रह कर जीवन यापन करने के लिए आशीर्वाद दिया। हम किन शब्दों में गुरु जी का गुण गान करें? शीश देकर भी ऐसे सद्गुरु मिल जाएँ तो भी सस्ता जान; वाली कहावत खरी उतरती है। मैं तो अपनी तोतली जुबा से यही गाता रहूँगा कि:-

धन्य हुआ गुरु देव, मैं तो धन्य हुआ।
तूने काटे सारे क्लेश मैं तो धन्य हुआ।।

ऐसे मेरे कर्म नहीं थे,साधक जैसे धर्म नहीं थे,
नहीं था अपना आधार, मैं तो धन्य हुआ...........
तान्त्रिक से मेरी रक्षा कर दी दया दृष्टी से झोली भर दी
जय सिद्धों के सरदार, मैं तो धन्य हुआ..........
गुरु जी मेरे प्रब्रह्म हो, शिव शंकर और श्री कृष्णा हो
गुरु चन्द्रमोहन अवतार, मैं तो धन्य हुआ..........
तब–तब हमने तुझ को पुकारा, तब–तब आ कर दिया सहारा
जय 'अधम' की सरकार, मैं तो धन्य हुआ............

जब श्री गुरुदेव का हाथ पकड़ा (1)

पूर्व आश्रमवासी राजकुमार शर्मा भिवानी (हरियाणा)

बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिंधू नर-रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।।

मैं उन सद्गुरु भगवान को कोटि-कोटि नमन करता हूं जो कृपा के सागर हैं। जिनका कोई पार नहीं, अपने शिष्यों पर कब-कब और कितनी कृपा बरसाते हैं, हम अकिंचन उनको सहज भाव से पहचान नहीं पाते हैं वे मनुष्य के रूप में साक्षात् भगवान ही हैं उनके चरणों की धूल हमारे जन्म जन्मान्तर के पाप कर्मों को क्षण भर में भस्म कर देती है। उनका हम अपने मन में तनिक भी ध्यान करते हैं तो वो हमारी समस्त इन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों मन, बुद्धि, आत्मा को निर्मल करके हमारे जीवन को प्रकाशमय कर देती हैं। वो प्राणी वो शिष्य धन्य है जो सद्गुरु चरणों में नित्य प्रति भरत की तरह श्री राम की चरण पादुका को नमन करके ही अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं। जिस प्रकार चौदह वर्ष तक भरत ने खुद जमीन पर सोकर और पादुका को राजसिंहासन पर विराजमान करके अपना कर्तव्य पालन किया था जिसकी गाथा आज भी गाते हैं, ठीक उसी प्रकार सद्गुरु देव के चरणों का अभिनन्दन कर सभी कार्य किये जायें तो वे सभी काम अपने न होकर श्री गुरुदेव के ही हो जाते हैं, और हम निश्चय ही सफलताओं के शिखर पर पहुँच सकते हैं। इस में लेश मात्र भी संशय नहीं। सद्गुरु का स्वभाव उस कपास जैसा होता है जो एक दम धवल गुणवान कपास का धागा लोढ़े जाने, काते जाने इत्यादि का कष्ट वस्त्र के रूप में परिणित होकर सर्दी गर्मी से हमारी रक्षा करता है, उसी प्रकार सद्गुरु अपने सुख को छोड़कर अपने शिष्य की चिन्ता में लगे रहते हैं।

भजन ध्यान तप समाधि बहुत कठिन कार्य हैं। तपस्या करना आज के युग में असम्भव है। इन्द्रियों को वश में करके एकाग्रचित होना भी कठिन कार्य है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि से अष्टांग योग है। इसमें समाधि का आखिरी पड़ाव है। इसमें साधक अपना भान भूल जाता है। उसको समय, काल का ज्ञान नहीं रहता कितने दिन समाधि में बीत गए कुछ याद नहीं रहता यहाँ पहुँचने पर साधक अपने आप में पूर्ण हो जाता है। परंतु सद् शिष्य गुरु भक्त को बिना कोई यम, नियम आसन के केवल गुरु चरणों की निरासक्त भाव से सेवा करने पर सहज प्राप्त हो जाया करती हैं उसको क्रम से बिना चले सहज समाधि लगने लग जाती है। स्वामी विवेकानन्द की (नरेन्द्र) की गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा थी। रामकृष्ण परमहंस को कैंसर हो गया था जहाँ पर प्राणी मात्र की उनके पास जाने की अनुमति नहीं थी क्योंकि वो भयंकर कैंसर का फोड़ा जिसमें से गंदा खून व अन्य

खराब रिसाव चलता रहता था एवं बीमारी लगने का भी भय था, मगर बालक नरेन्द्र ने इन सबकी परवाह न करते हुए, गुरुजी की सेवा की और उस पीव को (गंदे खून) को पी गया सभी शिष्य देखते रह गए। रामकृष्ण परमहंस की शक्ति पात हुआ और सभी सिद्धियाँ उनके समा गई, ये होती है गुरु कृपा जिसमें सब कुछ सहज प्राप्त हो जाता है। गुरुदेव की निष्काम भाव से सेवा करने पर यहाँ एक सेवा भाव का उदाहरण है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम जी जब वन को गए साथ में सब कुछ छोड़कर लखन लाल ने जो सेवा की भरत ने राजतिलक न कराकर चौदह वर्षों तक धरा पर रहकर तप किया ये दोनों श्रीराम को अति प्रिय थे उनके छोटे भाई भी थे। परंतु जब सीता हरण हुआ, सीता का पता नहीं लगा, सुग्रीव की सहायता ली और हनुमान जी ने लंका को जलाकर वापस आकर सीता की खोज का समाचार सुनाया तो कृपा सागर ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से बस एक ही बात दोहराते रहे हैं पुत्र सुन, मैंने अपने मन में खूब विचार करके देख लिया है मैं तुम्हारे ऋण को कभी नहीं चुका सकूंगा। तुम्हारे समान मेरा उपकारी, देवता, मनुष्य ऋषि अथवा कोई भी शरीर धारी नहीं है। मैं तेरा प्रत्युपकार तो क्या करूं मेरा मन भी तुम्हारा सामना नहीं कर सकता। तुम मम प्रिय भरत सम भाई श्री हनुमान जी इसलिए प्रभु को प्रिय थे वो उनके कार्य को ही भजन समझते थे। सेवा को ही सर्वोपरि मानते थे, इसलिए श्री हनुमान जी आज तक अमर हैं। सुग्रीव, भरत लखन, हनुमान विभिषण और तो और गधिराज जटायू तक सभी सेवा के आधार पर ही उस परम परमात्मा तक पहुँचे हैं।

इसी प्रकार सद्गुरु की सेवा सबसे सर्वोपरि है। उनके आश्रम में जाकर आश्रम की सेवा उन्हीं की सेवा है। हर प्राणी को सम्मान देना, उस पर दया करना ये सभी सद्गुरु की सेवा है, उनके द्वारा बतलाये गए मार्ग पर चलना ही उनकी परम सेवा है।

सद्गुरु की महिमा अपार है यदि सहस्त्र मुख वाले शेषनाग भी गाने लगे तो उनका पार नहीं गुरु के बिना ज्ञान हो सकता नहीं वैराग्य सद्गुरु ही कराते हैं और बिना वैराग्य, साधना नहीं होती। बिना पानी के नाव, चल नहीं सकती।

संतोष के बिना शान्ति पा सकता नहीं,

श्रद्धा के बिना धर्म का आचरण नहीं होता।

पृथ्वी तत्व के बिना गन्ध

तप के बिना तेज

जल के बिना संसार

आत्मान्द के बिना मन

और सद्गुरु के बिना शील स्वभाव।

श्री सद्गुरु की महिमा नाम रूप और गुणों की महिमा अपार है, अनन्त है। उनकी कृपा के बिना मुक्ति नहीं।

श्री सद्गुरु देव अनन्त कोटि तीर्थों के समान पवित्र करने वाले हैं। उनका (नाम जप) सम्पूर्ण पाप समूह को भस्म कर देता है। वे करोड़ों हिमालय के समान अचल हैं और सागर के समान उनकी गहराई है। कामधेनू के समान सब कामनाओं को देने वाले हैं। वे करोड़ों विष्णुओं के समान पालन करने वाले भी हैं।

वे अनेकों कुबेरों के समान धनवान हैं। कई सूर्यों के समान तेजवान हैं। वे अपार गुणों के समुद्र हैं। उनका कोई थाह नहीं पा सकता वे अपने शिष्यों को सदा सुख देने वाले हैं। कितना भी बड़ा अपराध क्यों न हो गुरुदेव कभी क्रोधित नहीं होते वे ही तो सुखों का आधार हैं। किस प्रकार हमारा भला हो उनका पहला ध्यान रहता है।

वाह रे पालन हार, तुम बिन सूना सब संसार, के आ जाओ करतार। एक बार की बात है। उन्हीं के करुणा कृपा से हमें कुछ दिन उनके प्रसाद बनाने का सौभाग्य मिला, बात सँवाई आश्रम की है। जुलाई का महीना था आसमान पूरी तरह बादल रूपी चद्दर ओढ़े हुए था। बिजली उनके बीच से खेल–खेल रही थी धरा पर हर जगह हरियाली ही हरियाली थी मेरे कहने का तात्पर्य बड़ा मनोहर महीना था। श्री गुरुदेव का प्रसाद बना ही लिया था तभी आकर बोले लल्ला भोजन बन गया? मैंने कहा हाँ उन्होंने कहा रुको लल्ला आश्रम की गाय मर गई है उसको मिट्टी देने के बाद दोबारा से बनाना।

गाय को मिट्टी देने के बाद दया सिन्धु बोले लल्ला जोर से भूख लगी है, जल्दी–जल्दी बनाकर भोग लगा, उन्हीं की कृपा से 10 मिनट में मैंने भोग लगाकर श्री गुरुदेव जी को भोजन कराने लगा भोजन करते–करते बोले लल्ला आज तो तुमने बहुत स्वादिष्ट सब्जी बनाई और वो भी इतनी जल्दी। भोजन लगभग कर ही चुके थे, थाली में बची सब्जी को चम्मच से जल्दी–जल्दी खा रहे थे, उधर क्या होता है। एक मोटा सा चींटा (मकोड़ा) कोई लगभग छः फीट की दूरी से बड़ी तेजी से बढ़ा आ रहा था, मेरा ध्यान अचानक उसकी ओर गया वो और तेज–तेज बढ़ता गया श्री गुरुदेव चम्मच से सब्जी ही खा रहे थे। मैं कभी श्री गुरुदेव को देखता फिर उस चींटे को देखता जो इतनी तेजी से बढ़कर लगभग थाली के पास ही आ गया था मैं वहाँ से कुछ दूरी पर बैठा था। सोचा चींटा उधर की उधर दूर से बाहर चला जाएगा। परंतु ये क्या वो थाली के किनारे पर आकर सब्जी में गिर चुका था और श्री गुरुदेव जी की चम्मच सब्जी लेकर ऊपर जाने लगा, ये बात मैं लिख तो धीरे–धीरे रहा हूँ और आप भी धीरे–धीरे पढ़ रहे हैं। परंतु ये घटना इतनी तेजी से घट रही थी कि मुझे भी अचरज में डाल दिया मैं क्या करूं।

चींटे को दूर से भगाने की सोचने लगा तब तक वो थाली के ऊपर आ चुका था, मेरी अजब हालत मैं करूं तो क्या करूं।

मुख मण्डल चम्मच लेने के लिए थोड़ा खुला एक दम उन्हीं की प्रेरणा से उठा और

झट से पता है क्या कर बैठा वही हाथ हम सब को आशीर्वाद दिया करते थे, लल्ला आशीर्वाद है। वही हाथ जो अर्जुन का रथ हाँका करते थे वही हाथ जिसने भरी सभा में द्रोपदी का चीर बढ़ाया था, वहीं हाथ जो रूकमणी ने सुदामा के चावल खाते पकड़ा था अरे वहीं हाथ जो माता यशोधा ने मिट्टी खाते पकड़ा था, आज वही हाथ एक तुच्छ सेवक ने झट से पकड़ा था अन्दर चम्मच को नहीं जाने दिया वहीं पर रोक लिया श्री गुरुदेव की नजर मुझ पर गई।

गम्भीर स्वर में बोले क्या बात है लल्ला मैंने चम्मच नीचे डलवाकर चींटे की ओर संकेत करके बोला। मैं इसके सिवाय कुछ कर भी नहीं सकता था। ये आपके मुख में जा ही रहा था। यदि मैं बोलकर आपको कहता तब तक तो बहुत देर हो जाती। श्री गुरुदेव जी, ये मेरी विवशता थी। सिद्धों के सिद्ध थोड़े मुस्कराये और बोले तुम तो बड़ा ध्यान रखते हो। उनका मैं ध्यान रखूंगा जो सबका ध्यान रखते हैं। तो ये उन्हीं की लीला थी वो किस से क्या करा ले वो ही जाने आप स्वयं अनुभव करके देखना उनका ध्यान करना, बदले में वो कदम–कदम पर आहट के साथ आप को हर कठिन से कठिन परिस्थिति से तुम्हें वो उभार लेगें कितनी आसानी से वे दया सागर, कृपा सिन्धु और पतित पावन महान हैं।

▣ ▣ ▣

"गाय हमारी ही नहीं, मानव समाज की माँ है, सारे राष्ट्र को यह मालूम होता जायेगा कि गाय आपकी सेवा कर रही है। आपको यह लगेगा कि आप गाय की सेवा कर रहे हैं तो गाय हर तरह से स्वास्थ्य की दृष्टि से, बौद्धिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से आपकी सेवा कर रही है।"

अष्टाङ्ग योग

डा. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

माया का गुणकर्मविभाग

संसार के मायिक बन्धन से मुक्ति पाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस आश्चर्यमयी माया को जानें। यद्यपि यह बहुत कठिन कार्य है, परमात्मा की माया को पूर्णरूप से वही जानता है जो स्वयं इसका मायावी है। श्रुतिप्रमाण है कि

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यैव अवयवभूतैस्त व्याप्तमिदं जगत्।।

अर्थात् सृष्टिरचयिता प्रकृति ही परमात्मा की माया है तथा स्वयं परमात्मा ही इसका संचालन करने वाला मायावी है। यह सम्पूर्ण जगत इसी माया के अवयवों के रूप में प्राणादि अनन्त अवयवों से व्याप्त है, यानि सर्वव्यापक ब्रह्म पर आश्रित नाम–रूप के विकारों से आरोपित जगत माया का प्रतीक मनोदृश्य है। इसलिए श्रुति प्रमाण है कि

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित् सचराचरम्।
मनसो हि अमनीभावे द्वैतभाव नैवोपपद्यते।।

अर्थात् द्वैत के रूप में जड़ तथा चेतन जगत दिखाई देता है, वह सम्पूर्ण रूप से मन के द्वारा अनुभूत मायाजनित दृश्यमात्र है। इसका आधार तथा दृष्टा दोनों ही परमात्मा है तथा इसका संचालक भी वही है। परमात्मा के इन तीनों रूपों की श्रुति पुष्टि करती है कि

एतद् ज्ञेयं नित्यं आत्मसंस्थितं नात: परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।
यद् एतद् दृश्यते मूर्तं एतद् ज्ञानात्मकं तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगत्रूपं अयोगिन:।।
स्वप्नमाये यथा दृष्टं गंधर्वनगरं यथा।
तथा दृष्टमिदं विश्वं वेदान्तेषु विचक्षणै:।।

अर्थात् प्रत्येक शरीर में अन्तरात्मा के रूप में विद्यमान जो परमात्मा है वही सदैव जानने योग्य है, उससे भिन्न दीखने वाले सभी पदार्थ मिथ्या हैं, कल्पित हैं। उसके अतिरिक्त कुछ भी ज्ञातव्य वस्तु है ही नहीं। संसार में जो जीवात्मा के रूप में विषयों का भोक्ता है, जो विषयभोगरूपी भोग्य पदार्थ हैं, तथा संसार के संचालनकर्त्ता परमात्मा है, यह तीनों ही एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं। जगत के रूप में अज्ञानियों को भ्रान्तिज्ञान के कारण जो संसार दिखाई

देता है वह तात्विक दृष्टि से तो ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जिस प्रकार निद्रा के आवरण में स्वप्नजगत मायामय होते हुए भी सत्य भाषित होता है, संकल्पमात्र से रचा हुआ गंधर्वनगर भी जागृत अवस्था में भी सत्य भाषित होता है। यह सब माया ही है। ब्रह्मवेत्ताओं को तो सम्पूर्ण विश्व अपना ही रूप दिखाई देता है, क्योंकि द्वैतभाव तो अविद्या के कारण था जो ज्ञान से नष्ट हो जाती है। ठीक वैसे ही जैसे प्रकाश के होने पर अन्धकार के कारण रज्जु में हुई सर्पभ्रान्ति स्वतः नष्ट हो जाती है। किंतु तत्वज्ञान के उदय होने में सबसे बड़ी बाधा है माया का गुण तथा कर्मविभाग। माया के तीन गुण तथा पंच क्लेशों का माया मायाजाल बनाती है तथा माया के इन विकारों का कार्य है कर्माशय। यह कर्माशय ही गुणों के माध्यम से जीवात्मा को शरीर से बाँधकर रखता है। माया के इसी गुणकर्मविभाग ने चैतन्यात्मा को अपने द्वारा निर्मित अन्नमय शरीर, प्राणमय, शरीर, मनोमय शरीर तथा विज्ञानमय शरीर की श्रृंखला में ऐसा बाँधकर रखा है कि उनमें पूर्णरूपेण अभिन्नता का ही आभास रहता है जिसके कारण इस शरीरबंधन से मुक्त परमात्मा से अपने को भिन्न अनुभव करती है। यही भिन्नता कर्मबन्धन का कारण होती है। श्रुति भी इसी रहस्य की पुष्टि करती है कि

पश्यति आत्मानं अन्यच्च यावत् वै परमात्मनः।
तावत् संभ्राम्यते जन्तुः मोहितोनिजकर्मणा।।

अर्थात् जब तक जीवात्मा अपने को परमात्मा से भिन्न देखता है तभी तक अपने कर्म तथा कर्मफलों से मोहित जीव संसार में भ्रमित होकर भ्रान्तिवश दुःख भोगता है। उसे अपने स्वाभाविक परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही नहीं होता। हमारे शास्त्र भी इसी ओर संकेत करते हैं कि

कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः।
दृश्यते हि अर्थरूपेण पुरुषैः भ्रान्तदृष्टिभिः।।

अर्थात् प्रत्येक शरीर में चैतन्यात्मा तत्वतः केवल दृष्टामात्र, गुणविकारों से रहित तथा सर्वव्यापी है किंतु अविद्याजनित भ्रान्तदृष्टि के कारण अपने को विवश, असमर्थ तथा सुख दुःख के मायाजाल में फंसी हुई पाती है। इस मायाजाल का निर्माण माया के पंच क्लेशों तथा तीन गुणों ने प्रकृति के अन्य पंच महाभूतों, अहंकार, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों को प्राणमय शरीरों में आकर्षित करके किया है। यह मायाजाल प्राणादि माया के अनन्त गुणविकारों तथा तज्जनित भावों से बुना गया है। इतना ही नहीं, सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह जाल उस तत्व का कार्य है जोकि अनादि है, अनन्त है तथा दुर्विज्ञ है। परमात्मा ने अपने मुखारविन्द से इसकी पुष्टि की है कि–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभौ अपि।

विकारान् च गुणान् चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।

न रूपं अस्यैव तथोपलभ्यते नान्तो न चादि न च संप्रतिष्ठा

अर्थात् प्रकृति तथा परमात्मा दोनों ही अनादि हैं यानि कालातीत हैं। तीन गुण रज, तम तथा सत्व तथा उनसे उत्पन्न होने वाले माया के अवयवरूप विकार प्रकृति से ही प्रकट हुए हैं। प्रकृति की इस प्रक्रिया को न तो कोई पूर्णरूपेण जानने में समर्थ है, न इसका आदि है और न अन्त। प्रकृति के कार्यक्षेत्र का कोई भी आधार अथवा सीमा बुद्धि की परिधि में नहीं आती। इसका मुख्य कारण तो इसकी सर्वत: अनन्तता है तथा इसका मूल भी अनन्त परमात्मा में गुप्त है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने भी स्वीकार किया है कि–

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्।
आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्य:।।
आश्चर्यवत् अन्य: श्रणोति एनम्।
श्रुत्वापि एनं वेद न चैव कश्चित्।।

अर्थात् इस माया तथा उसके कार्य जगत को कोई आश्चर्यपूर्ण आँखों से देखता है, कोई आश्चर्यपूर्ण वाणी से बोलता है तो कोई आश्चर्यपूर्ण कानों से सुनता है किंतु कोई भी इसे समझ नहीं पाता। इसको समझने का, इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का तथा इसके मायावी को जानने का एक ही उपाय है, और वह है–

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा
तत: पदं तत्परिमर्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूय:।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यत: प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी।।
निर्मानमोहा: जितसंगदोषा: अध्यात्मनित्या: विनिवृत्तकामा:।
द्वन्दै: विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै: गच्छन्ति अमूढा: पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् इस मायारूपी पीपल वृक्ष की जड़ तो परब्रह्म में स्थित है जहाँ किसी भी प्राणी के लिए पहुँच पाना वैसा ही असम्भव है जैसा कि नमक की पोटली का समुद्र की गहराई को नापना। किंतु संभव यही है कि अनासक्तिरूपी शस्त्र से मनुष्य अपने मायिक बन्धन को काट सकता है। वस्तुत: मनुष्य के मनबुद्धिरूपी हाथों ने ही मायारूपी वृक्ष को पकड़ रखा है। जब तक यह पकड़ शिथिल नहीं होती तब तक प्रकृति के गुणों से सम्मूढ़ जीवात्मा कर्मबन्धन में फँसी रहती है। इससे मुक्ति पाने के लिए उसी की शरण में जाना चाहिए जिससे इस मायारूपी वृक्ष की उत्पत्ति हुई है। समस्या है कि वह परमात्मारूपी मायाध्यक्ष न तो आँखों से देखा जा सकता है, न कानों से सुना जा सकता है और न मन से उसका मनन सम्भव है। तब फिर किस प्रकार शरण में जाया जाय, क्योंकि वह सर्वव्यापी है, दूध में घी की भांति संसार में गुप्त है। उसकी अनुभूति विशुद्ध बुद्धि में ही संभव है जिसमें मायाजनित विकारों जैसे

मान–अपमान, विषयभोगों में आसक्ति, सांसारिक सम्बन्धों में सत्यता देखना, सांसारिक ऐश्वर्यों में रुचि, अन्तःकरण की चित्तवृत्तियों में ही चैतन्यात्मा की एकात्मता, चित्त का अनन्त कामनाओं से आच्छादित रहना, सुख–दुःख के द्वन्दों में लिप्त रहना आदि से पूर्णरूपेण शुद्ध हो चुकी है।

इस शुद्धि में कर्मयोग, क्रियायोग तथा पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग का विशेष योगदान रहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए गणितीय सूत्र में तीन मार्गों का उल्लेख किया गया है।

■ ■ ■

शोक संवेदना

■ यह सूचित करते हुए बहुत दुःख हो रहा है कि राजू श्रीवास्तव (एत्मादपुर निवासी) का 1 सितम्बर जन्माष्टमी के दिन देहावसान हो गया है। वह कई महीने से रुग्ण चल रहे थे और काफी कृश होते जा रहे थे। ये आश्रम के परम भक्तों में से थे। सिद्धयोग पत्रिका में भी इनका काफी सहयोग रहता था इसमें भी हमें अपूरणीय क्षति हुई है। सिद्धयोग परिवार आश्रमवासी इस दुःख की बेला में दुःखी परिवार को अपनी हार्दिक संवेदना प्रेषित कर रहा है। सर्व शक्तिमान उन्हें अपने अभय चरणों में स्थान दें।

■ बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि हमारे पुराने गुरुभाई प्रियाशरण दुबे का 17 सितम्बर 2010 को देहावसान हो गया है। वे आश्रम के पुराने साधकों में से थे। श्री गुरुदेव इन्हें अपने अभय चरणों में स्थान दें तथा परिवार के दुःखी व्यक्तियों को इस दुःख को सहन करने की ताकत दें।

जय गुरुदेव!

सम्पादक
'सिद्धयोग'
श्री सिद्धगुफा संवाई, आगरा

चैतन्य चरितावली का एक प्रसंग

दिशाहीन नारियों का उद्धार

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

(गतांक से आगे)

पतित–पावन प्रभु तो इसके लिए तैयार ही बैठे थे। वे जल्दी से उठ बैठे और उन पर करुणा भरी विकार–नाशिनी दृष्टि डाल कर बड़े ही मधुर स्वर से प्रेम के साथ बोले– 'माताजी ! इस दीन–हीन सन्तान के लिए क्या आज्ञा है, मैं आपकी किस आज्ञा का पालन करूँ?' उनकी दृष्टि में और उनके इन शब्दों में पता नहीं क्या जादू था? वे दोनों अवाक् रह गयी। काटो तो बदन में लोहू नहीं! उनकी वाणी बन्द हो गई, धैर्य छूट गया और पश्चाताप की अग्नि ने उनके हृदय में एक प्रकार की ज्वाला पैदा कर दी। वे आत्म–ग्लानि से अभिभूत होकर जल्दी से वहाँ से उठ खड़ी हुई। तीर्थराम इन बातों को सुन रहा था। प्रभु संकीर्तन के श्रवण मात्र से ही उसका धैर्य टूट गया था। अब रहा–सहा धैर्य इस असम्भव घटना ने तोड़ दिया। परम सुन्दरी दो युवती एकान्त में जिससे प्रेमालाप करने की प्रार्थना करें और वह उन्हें माता कहकर सम्बोधन करे, यह कोई मनुष्य नहीं ईश्वर है। यह संसारी प्राणी का काम नहीं ये तो देवताओं के भी देवताओं का काम है। यह सोचते–सोचते वह महाप्रभु के पाद–पद्मों में जाकर गिर पड़ा और बड़े ही जोर से चीत्कार मारकर कहने लगा– 'हा प्रभो! मुझ पापी का भी उद्धार करो, प्रभो मुझे अपने चरण की शरण दो।'

महाप्रभु ने उसे उठाकर छाती से लगाया और प्रेम में विह्वल होकर जोर–जोर से नृत्य करते हुए संकीर्तन करने लगे। वे अविरल भाव से प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए नृत्य करने लगे। भावावेश में उनके शरीर का वस्त्र जमीन पर गिर पड़ा, इससे उनके दीप्तिमान् श्रीअंगों से तेज की किरणें फूट–फूटकर उस नीरव स्थान को आलोकित करने लगी। वे वेश्यायें भी इस अद्‌भुत चमत्कार को देखकर भावावेश में अपने को भूल गयीं और भगवान नाम का कीर्तन करती हुई नृत्य करने लगी।

तीर्थराम ने प्रभु के श्रीचरणों को जोर से पकड़ लिया और बार–बार चिल्ला–चिल्ला कर वह कहने लगा–प्रभो! मुझ पापी का भी किसी प्रकार उद्धार हो सकेगा? दयामय! मेरे पापों का प्रायश्चित्त किसी तरह हो सकता है क्या ?

पतितपावन प्रभुजी ने उसे उठाकर अपने गले से लगाया और कहा– 'तीर्थराम! तुम पापी नहीं, पुण्यात्मा हो, तुम्हारे श्रीअंग के स्पर्श से मैं पावन हुआ। तुम भाग्यवान् हो, प्रभुजी के कृपापात्र हो, अपने मन से ग्लानि निकाल दो। करुणामय श्रीहरि सबका भला करते हैं। जो

उनकी शरण में पहुँच जाता है उसके पाप रहते ही नहीं। रूई के ढेर में जैसे अग्नि पड़ने से भस्म हो जाती है, उसी प्रकार वे भस्म हो जाते हैं।'

महाप्रभुजी के इन आदेशमय वाक्यों को सुनकर तीर्थराम को कुछ धैर्य हुआ। उसने अपने को महाप्रभु जी के श्रीचरणों में सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया। महाप्रभुजी ने उसे हरि–नाम–मन्त्र का उपदेश दिया और वह भी तिलक–कण्ठी धारण करके शुद्ध वैष्णव बन गया। दोनों वेश्याओं ने भी अपने पापों का प्रायश्चित किया और वे निरन्तर हरिनामस्मरण करने लगीं।

तीर्थराम की स्त्री का नाम कमलकुमारी देवी था, अपने पति की ऐसी दशा देखकर उसे परमानन्द हुआ। वह सती–साध्वी पतिव्रता पत्नी अपने पति–चरणों का अनुगमन करने वाली थी। उसने अत्यन्त ही दीन–भाव से प्रभुजी के पाद्–पद्मों में प्रणाम किया और गद्‌गद् कंठ से प्रार्थना की – 'प्रभो! इस पापिनी का उद्धार कीजिये। मुझे भी अपने चरणों की शरण प्रदान कीजिए, जिससे संसार–सागर से मैं भी पति के चरणों का अनुगमन कर सकूँ।'

महाप्रभु की आज्ञा से तीर्थराम ने अपनी पत्नी को हरि–नाम–मंत्र का उपदेश दिया। वह भी अपना सारा धन कंगालों को बाँटकर तीर्थश्राम के साथ हरि–नाम–संकीर्तन करने लगी।

महाप्रभु सात दिन तक बटेश्वर में ठहरे। वहाँ रहकर वे धनीराम को उपदेश देते थे। प्रभुजी ने उससे कहा– बहुत ग्रंथों के मायाजाल में मत पड़ना, भगवान केवल विश्वास से ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण जगत के वैभव को तृण–समान समझना और निरंतर भगवन्नाम संकीर्तन में लगे रहना, यही वेद–शास्त्रों का सार है।' इस प्रकार तीर्थराम और उन दो सुन्दरी वेश्याओं को प्रेमदान करके महाप्रभु श्रीरंगम् चले गये थे और श्रीरंगम् में ही चातुर्मास्य किया। जब वर्षा समाप्त हो गई, तब प्रभु ने श्रीरंगम् से आगे चलने का विचार किया।

▣▣▣

''गाय जितनी प्रसन्न होती है, उतने ही उसके दूध में विटामिन्स उत्पन्न होते हैं और गाय जितनी ही दुःखी होती है, उतना ही दूध कमजोर होता है।''

श्रद्धा सुमन पावन श्री चरणों में

अवनीश भटनागर, सहारनपुर

पूर्व जन्मों के पवित्र तपोमय संस्कारों के द्वारा इस जीवन में अभय श्रीचरण अनायास ही हमें प्राप्त हो गये। हमें बिल्कुल भी पात्रता नहीं थी उनको प्राप्त करने की। अब तो निश्चित रूप से अपनी वृत्तियों का शोधन करके तपोमय मार्ग का अनुशरण कर वृत्तियों को अन्दर की ओर ले जाकर ''योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः'' को साकार करें। भगवान गीता में बता ही रहे हैं कि जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते'' योग का जिज्ञासु मात्र भी सभी कर्मकाण्ड से ऊपर हो जाता है और जब वृत्ति अन्तर्जगत में लीन होगी ध्यान लग जायेगा तो बात इस तरह होगी–

यस्मिन देशेवसेद्योगी ध्यानयोग विचक्षण।
सोऽपि देशो भवेतपूतः किम पुनस्तस्य बान्धवा।।

जिन अभय श्रीचरणों से विद्या, सिद्धि और शक्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है उन परम कृपावान श्रीचरण कमलों की आज्ञा में रहकर अपने जीवन को चमका लेना चाहिए। जितना करते जायेंगे उतना मिलता चला जायेगा। यह सर्वशक्तिमान श्री रामलाल महाप्रभु जी का दरबार है। शक्ति तो उनके हर कार्य से बरस ही रही है। तुम्हें भी मिलेगी ही, तुम्हें करना क्या है? श्री सद्गुरुदेव जी के शरणागत हो, उनके कन्ट्रोल में रहें और उनके मन को प्रसन्न करके शक्ति संचार प्राप्त करें और आत्म उन्नति करते–करते 'समाधि समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः' की योग्यता तो प्राप्त कर ही लें।

श्री सद्गुरुदेव जी की आज्ञा पालन करते हुए उनके कार्य को करना प्रत्येक शिष्य का अधिकार है। श्री सद्गुरुदेव जी की विद्या को आत्मसात करके जन कल्याण के लिए प्रचार प्रसार करें और यदि श्री सद्गुरुदेव के किसी लीलाधाम में निवास है तो श्री गुरुदेव के लीला धाम की उन्नति व प्रगति के लिए निरन्तर प्रयास करें। आपसी विवादों को एक तरफ छोड़ दें, बस इतना ध्यान रहे कि बड़े भाग्य से यह सेवा मिली है। इस मौके को ऐसे ही न जाने दें। श्री गुरुदेव जी के लीला धाम व उनकी विद्या का उत्थान व जग प्रकाश करने का सद् प्रयास अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर करें। सारे झंझटों को छोड़ दें, श्री गुरुदेव जी जो करेंगे ठीक ही करेंगे। वह तो निरन्तर देख ही रहे हैं। हम उनके बच्चे हैं, उनकी शरण में हैं। निश्चित रूप से श्री गुरुदेव का कार्य तो उनके संस्कारी बच्चे ही करेंगे। यदि कृपा प्रसाद में उनका कोई लीला धाम मिला है, तो उसको श्री गुरुदेव जी की पावन स्मृति समझ कर उसके उत्थान के लिए अपना सर्वस्व एवं जीवन अर्पित, सद्गुरुदेव महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी की भाँति कर दें।

उन्होंने अपना जीवन लगा दिया अपने गुरुदेव की स्मृति (''श्री सिद्धगुफा'') और उनकी विद्या 'सिद्धयोग' को जग प्रसिद्ध बनाने में।

यह तो एक अवसर मिला है श्री महाप्रभु जी की सेवा करके इहलोक और परलोक बनाने का, इस शुभ अवसर को हाथ से न जाने दें। शरीर को पालने में हम प्रयासरत् हैं, परंतु इसका कोई भरोसा नहीं, आज है कल नहीं। वर्ष 2009 योगेश्वर महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी का जन्म शताब्दी वर्ष रहा। सद्गुरुदेव जी के सभी बालकों के मन में भारी उत्साह देखने को मिला। हमने भी निजी जिम्मेदारी समझ श्री सद्गुरुदेव जी के बालवृन्द समुदाय को तीव्र प्रेरणायें करके महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जन्म शताब्दी समारोह को हर्षोल्लास एवं बहुत धूमधाम से मनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे सम्बन्धित अनेक लेख 'सिद्धयोग' पत्रिका में भी लिखे। उसके भी बहुत अच्छे परिणाम देखने को मिले। सन् 2004 से हम इस प्रयास में निरन्तर लगे थे कि हमारे सद्गुरुदेव योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन महाप्रभुजी का जन्म शताब्दी वर्ष अद्वितीय छाप छोड़े। ऐसा ही हुआ महाप्रभु श्री रामलाल जी का सर्वोच्च योगपीठ 'श्री सिद्धगुफा' जो महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन की कर्मभूमि भी है, में दस दिन का भव्य कार्यक्रम बहुत धूमधाम से मनाया गया। महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी के प्रादुर्भाव स्थल 'श्री अलुपुर धाम' में नौ दिन का भव्य कार्यक्रम मनाया गया। सहारनपुर में तीन दिन का भव्य कार्यक्रम एवं श्री सिद्धयोग सत्संग सभा के तत्वाधान में विशाल योग सम्मेलन बहुत धूमधाम से मनाया गया। दिल्ली, दतिया, ऋषिकेश योग साधन आश्रम, गंगापुर सिटी, कानपुर, बामनी, अलीगढ़ आदि अनेक स्थानों पर भव्य शताब्दी कार्यक्रम मनाये गये।

अति आवश्यक है हम श्री सद्गुरुदेव जी के पावन श्री चरणों में पूर्णरूपेण समर्पित रहें। अपने कार्य कराने के लिए लम्बी–लम्बी लिस्टें हम उनके श्री चरणों में न रखें। रात दिन अपने संसारी कार्यों की पूर्ति की न सोचें। रात दिन उनकी ड्यूटी न लगायें रखें। हम अपनी रक्षा के लिए ऐसा बिल्कुल न करें कि गुरुदेव आप खड़े रहे और जागते रहें। ताकि हम आराम से सोते रहें, ये भक्ति नहीं स्वार्थ पूर्ति होगी। विचार करना ही पड़ेगा, दृष्टि डालनी ही पड़ेगी कि कितने कठिन कानून हमारे लिए हमारे गुरुदेव ने बनाये हैं। बिल्कुल छूट नहीं है, किसी के लिए भी, उनके सत् साहित्य का स्वाध्याय कर निरन्तर उनकी वाङमयी मूर्ति की पूजा आरती करें। उस कोर्स को अब कर लें, चाहे आगे कर लें, करना वही पड़ेगा। अति आवश्यक है कि श्री गुरुदेव को मानने के साथ–साथ गुरुदेव की भी मानें तो कुछ बनेगा। जब कुछ बनेगा तो चमक भी आयेगी ही।

▣▣▣

भ्रमर - जप

भ्रमर के गुञ्जारव की तरह गुनगुनाते हुए जो जप होता है वह भ्रमर–जप कहाता है। किसी को यह जप करते देखने–सुनने से इसका अभ्यास जल्दी हो जाता है। इसमें होंठ नहीं हिलते, जीभ हिलाने का भी कोई विशेष कारण नहीं। आँखें झपी रखनी पड़ती हैं। भ्रूमध्य की ओर यह गुञ्जारव होता हुआ अनुभूत होता है। यह जप बड़े ही महत्व का है। इसमें प्राण सूक्ष्म होता है और स्वाभाविक कुम्भक होने लगता है। प्राणगति धीरे–धीमी होती है, पूरक जल्दी होता है और रेचक धीरे–धीरे होने लगता है। पूरक करने पर गुञ्जारव आरम्भ होता है और अभ्यास से एक ही पूरक में अनेक बार मन्त्रावृत्ति हो जाती है। इसमें मन्त्रोच्चार नहीं करना पड़ता। वंशी के बजने के समान प्राणवायु की सहायता से ध्यानपूर्वक मन्त्रावृत्ति करनी होती है इस जप को करते हुए प्राण–वायु से ह्रस्व–दीर्घ कम्पन हुआ करते हैं और आधार–चक्र से लेकर आज्ञाचक्र तक उनका कार्य अल्पाधिक रूप से क्रमशः होने लगता है। ये सब चक्र इससे जाग उठते हैं शरीर पुलकित होता है। नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रूमध्य में उत्तरोत्तर अधिकाधिक कार्य होने लगता है। सबसे अधिक परिणाम भ्रूमध्य भाग में होता है। वहाँ के चक्र के भेदन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। मस्तिष्क में भारीपन नहीं रहता। उसकी सब शक्तियाँ जाग उठती हैं। स्मरणशक्ति बढ़ती है प्राक्तन स्मृति जागती है। मस्तक, भालप्रदेश और ललाट में उष्णता बहुत बढ़ती है। प्राक्तन स्मृति जागती है। मस्तक, भालप्रदेश और ललाट में उष्ण बहुत बढ़ती है। तैजस परमाणु अधिक तेजस्वी होते हैं और साधक को आन्तरिक प्रकाश मिलता है। बुद्धि का बल बढ़ता है। मनोवृत्तियाँ मूर्छित हो जाती हैं। नागस्वर बजाने से साँप की जो हालत होती है वही इस गुञ्जारव से मनोवृत्तियों की होती है। उस नाद में मन स्वभाव से ही लीन हो जाता है और तब नादानुसन्धान का जो बड़ा काम है वह सुलभ हो जाता है। '*योगतारावली*' में भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भगवान् श्रीशंकर ने मनोलय के सवा लाख उपाय बताये, उनमें नादानुसंधान को सबसे श्रेष्ठ बताया। उस अनाहत संगीत को श्रवण करने का प्रयत्न करने के पूर्व भ्रमर–जप सध जाय तो आगे का मार्ग बहुत ही सुगम हो जाता है। चित्त को तुरन्त एकाग्र करने का इससे श्रेष्ठ उपाय और कोई नहीं है। इस जप से साधक को आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है और उसके द्वारा वह स्वपरहित साधन कर सकता है। यह जप प्रपंच और परमार्थ दोनों में काम देता है। शान्त समय में यह जप करना चाहिए। इस जप से यौगिक तन्द्रा बढ़ती जाती है और फिर उससे योगनिद्रा आती है। इस जप के सिद्ध होने से आन्तरिक तेज बहुत बढ़ जाता है और दिव्य–दर्शन होने लगते हैं, दिव्य जगत् प्रत्यक्ष होने लगता है, इष्टदर्शन होते हैं, दृष्टान्त होते हैं और तप का तेज प्राप्त होता है। कविकुलतिलक कालिदास ने जो कहा है–

शमप्रधानेषु तपोधनेषु, गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

बहुत ही ठीक है– 'शमप्रधान तपस्वियों में (शत्रुओं को) जलाने वाला तेज छिपा हुआ रहता है।'

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना -

भिन्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर स्पेस आपतन (स्थान चयन) का विज्ञापन
2. लैटर बॉक्सों पर स्थान का प्रायोजन (स्पॉसरशिप)
3. मेल वाहनों पर स्थान का प्रायोजन (स्पॉसरशिप) दर : रु. 1000 प्रति पैनल प्रतिमाह पेंटिंग चार्ज रु. 500.00 प्रति पैनल
4. डाकघर परिसर में होर्डिंग लगाकर विज्ञापन दर रु. 5.50 प्रति वर्ग फीट प्रति माह
5. डाकघर के अन्दर या बाहर ग्लोसाइन बोर्ड अथवा पोस्टर लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति वर्ग फुट प्रति माह
6. डाकघर के पत्रों पर स्टाम्प कैंसिलेशन की डाई लगाकर विज्ञापन दर रु0 100/- प्रति डाई प्रतिदिन डाई का मूल्य रु0 400/-
7. मेघदूत पोस्ट कार्ड के माध्यम से विज्ञापन अर्थात् पोस्ट कार्ड के आधे भाग पर उत्पादों का विज्ञापन : दर रु. 2/- प्रति पोस्ट कार्ड। मेघदूत पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य केवल 25 पैसे मात्र।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2009-11

OCTOBER 2010

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री ______

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा